षष्ठम अध्याय

दलित साहित्य और आलोचना के प्रतिमान

आलोचना मानव-जाति की आदिम प्रवृत्ति है। साहित्य की अनेकतम विधाओं में आलोचना अपना एक विशेष स्थान रखती है। इसमें आलोचक तटस्थभाव से साहित्य या किसी रचना की गहराईयों तक जाकर और उसके रेशे-रेशे तक पहुंचकर उसके भावों को उद्घाटित करता है। आलोचना साहित्य और साहित्यकार दोनों के लिए जरूरी है। साहित्यकार 'क्या' और 'कैसे' लिख रहे हैं, इसको मापने का एक पैरामीटर है आलोचना। यह किसी कृति विशेष को समझने में पाठक की मदद करती है। इसके अंतर्गत किसी कृति के गुणों पर ही नहीं, बल्कि उस कृति के दोषों पर भी बात होती है। कृति की उपलब्धियों के साथ-साथ उसके अभावों का मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना वह अंतर्दृष्टि है जिसके सहारे किसी रचना के मर्म तक पचा पहुँचा जा सकता है।

पिछले कुछ दशकों से साहित्य में आलोचना का अर्थ बदला है। अब साहित्य में वह सैद्धांतिक आलोचना नहीं रही, जिसका विकास काव्यशास्त्रीय परम्परा के रूप में हुआ था। जिसे माध्यम बनाकर कवि लक्षण ग्रंथों की रचना करते थे या कवियों की तुलनात्मक श्रेणियाँ निर्धारित करते थे। अब ऐसी आलोचना भी नहीं रही जो मात्र रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि सिद्धांतों का केवल अनुसरण ही करती हो। अभी की आलोचलना उन प्रसंगों को उजागर करती है, जिसको अभी तक के आलोचकों द्वारा उल्लेख्य नहीं समझा गया था। दलित आलोचना पारम्परिक साहित्यिक आलोचना को एक सिरे से खारिज करने की बात नहीं करते, अपितु पारम्परिक साहित्यिक आलोचना के पुनर्मूल्यांकन की बात करते है। ऐसी परम्परा जिसने मानव-मानव के बीच खाई पैदा कर दी है। जिसने एक को बढ़ा और दूसरे को छोटा बनाने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। एक ऐसी परम्परा जिसने मानव समाज को जाति, धर्म और संप्रदाय के नाम पर बांट दिया है। दलित आलोचना ऐसी ही परम्परा के विरुद्ध में खड़ी आलोचना है, जो अपने साथ समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे का भाव रखती है।

6.1 हिंदी दलित आलोचना

हिंदी दलित आलोचना की परम्परा सामान्य हिंदी आलोचना से कुछ हटकर रही है। हिंदी दलित आलोचना की परम्परा अनुभव की प्रामाणिकता पर आधारित है। दलित आलोचक अपनी आलोचना में अनुभव की प्रामाणिकता पर जोर देते हैं। इसी के आधार पर ये आलोचक पारम्परिक आलोचना को कटघरे में खड़ा करते हैं। इस दृष्टि से देखें तो हिंदी दलित आलोचना में मुख्य रूप से दो

प्रवृत्तियां देखाई देती हैं। पहली प्रवृत्ति यह है जिसमें दलित आलोचक के निशाने पर पारम्परिक तथाकथित प्रगतिशील साहित्यकार हैं, जिनकी रचनाओं को हिंदी साहित्य में दलित चेतना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन आलोचकों के घेरे में प्रेमचंद, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, निराला आदि जैसे साहित्यकार हैं। दलित आलोचना की दूसरी प्रवृत्ति अपने दलित साहित्यकारों को पारम्परिक हिंदी आलोचकों के कब्जे से मुक्त कराने की है। दलित आलोचकों का मानना है कि पारम्परिक आलोचक हिंदी दलित साहित्य का सही-सही मूल्यांकन नहीं कर पा रहे हैं। जिसके तहत हिंदी दलित आलोचना पर अश्लीलता और अभद्रता का आरोप लगाया जाता है। हिंदी आलोचक दलित साहित्य के परिवेश, उनकी स्थितियों और अनुभवों को नजरअंदाज कर रहे हैं। जबकि दलित साहित्य के मर्म को समझने के लिए उसके परिवेश, स्थितियों आदि को समझना बहुत जरूरी है। इसकी ओर इशारा करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं -“दलित लेखकों द्वारा आत्मकथाएँ लिखने की जो छटपटाहट है वह भी इन स्थितियों की ही परिणति है। सामाजिक अंतर्विरोधों से उपजी विसंगतियों ने दलितों में गहन नैराश्य पैदा किया है। सामाजिक संरचना के परिणाम बेहद अमानवीय एवं नारकीय सिद्ध हुए हैं। सामाजिक जीवन की दग्ध अनुभूतियाँ अपने अंतस् में छिपाए दलितों के दीन-हीन चेहरे सहमे हुए हैं। इन भयावह स्थितियों के निर्माता कौन हैं ? दोहरे सांस्कृतिक मूल्यों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी ढोते रहने को अभिशप्त जनमानस की विवशता साहित्य के लिए जरूरी क्यों नहीं है ? क्यों साहित्य एकांगी होकर रह गया है ? ये सारे प्रश्न दलित साहित्य की अन्तःचेतना में समायोजित हैं।’’[1] लेकिन हिंदी आलोचक दलित साहित्य के इन्हीं अन्तःचेतना को नहीं पकड़ पाते हैं। जिसका विरोध दलित साहित्यकार करते हैं।

पिछले कुछ सालों से हिंदी दलित आलोचना के क्षेत्र में दलित आलोचना संबंधी किताबें आयी हैं। उनमें डॉ. एन. सिंह द्वारा संपादित ‘दलित साहित्य: चिंतन के विविध आयाम’ पुस्तक को हिंदी दलित आलोचना की प्रथम पुस्तक मानी गयी। अपनी पुस्तक में उन्होंने दलित साहित्य के चिंतन के विविध आयामों को रेखांकित किया है। प्रस्तुत पुस्तक पर टिप्पणी करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं “डॉ. एन. सिंह द्वारा संपादित, ‘दलित साहित्य: चिंतन के विविध आयाम’ हिंदी दलित साहित्य को समझने, परखने के लिए पहली पुस्तक मानी जाएगी, जिसमें विभिन्न दृष्टिकोण से लिखे गये दलित साहित्य पर बारह महत्त्वपूर्ण लेखों का संग्रह है।’’[2] इसके बाद टी.पी. राही की पुस्तक ‘हिंदी दलित कविता: नये संदर्भ’ और रजत रानी ‘मीनू’ की ‘नवें दशक की हिंदी दलित कविता’ है। ये दो किताबें हिंदी दलित कविता के महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट आलोचना की पुस्तकें हैं। हिंदी दलित आलोचना के क्षेत्र में डॉ. धर्मवीर का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। डॉ. धर्मवीर हिंदी दलित साहित्य

या विमर्श के पथ-प्रदर्शक माने जाते हैं। उनकी आलोचना की पुस्तकें हैं - 1. हिंदी की आत्मा 2. कबीर के आलोचक 3. कबीर के कुछ और आलोचक 4. सूत न कपास 5. कबीर और रामानंद: किंवदन्तियाँ 6. कबीर : बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी। सम्पूर्ण हिंदी साहित्य का ध्यान डॉ. धर्मवीर की आलोचना-दृष्टि पर उस समय गया, जब उन्होंने अपनी आलोचनात्मक कृति 'हिंदी की आत्मा' में ढंके की चोट पर कहा कि 'हिंदी की आत्मा संस्कृत है और संस्कृत को ही हिंदी का उद्गम स्रोत माना जाता है। अतः संस्कृत शूद्र विरोधी भाषा है। तो जाहिर सी बात है कि हिंदी भाषा भी दलित विरोधी होगी। उनके इस टिप्पणी ने साहित्यिक जगत में भूचाल ला दिया। चारों तरफ उनका विरोध होने लगा। अपनी इन्हीं स्थापनाओं के चलते डॉ. धर्मवीर विवादित रहें। बावजूद इसके, हिंदी दलित आलोचना के क्षेत्र में डॉ. धर्मवीर की आलोचना को नकारा नहीं जा सकता। उनकी रचना धर्मिता पर टिप्पणी करते हुए डॉ. श्यौराज सिंह ने लिखा हैं –"डॉ. धर्मवीर ने दलित दृष्टि से हिंदी आलोचना साहित्य में बड़ी भूमिका निभायी है, जिसका प्रभाव दलित चिंतन की दिशा में अनिवार्य तथा दूरगामी होने के असर है।"[3] हिंदी दलित आलोचना के क्षेत्र में कँवल भारती को व्यापक स्तर पर पहचान मिली है। उनकी आलोचना दृष्टि ने हमेशा अपने पाठकों को झकझोरा है। उनकी आलोचनात्मक कृति 'दलित विमर्श की भूमिका' है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने दलित विमर्श, उसकी अर्थवत्ता, उसका इतिहास और दलित आन्दोलन को दिखाया है। उन्होंने अपनी पुस्तक के माध्यम से सदियों से चली आ रही एक अमानवीय व्यवस्था का पर्दाफाश किया है। ब्राह्मणों द्वारा निर्मित समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र के तहत हजारों लोगों को कई वर्षों तक गुलामी झेलनी पड़ी और आज भी कई लोग इसे झेल रहे हैं। इस समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र के मूल में वर्ण-व्यवस्था है। वर्ण-व्यवस्था ही दलितों के शोषण और उत्पीड़न की जड़ है। वर्ण-व्यवस्था सामाजिक अलगाव पैदा करती है। इस तरह से कँवल भारती ने 'दलित विमर्श की भूमिका' लिखकर हिंदी दलित आलोचना में एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।

कँवल भारती के बाद दलित आलोचना के क्षेत्र में ओमप्रकाश वाल्मीकि आते हैं। उन्होंने दलित साहित्य के लिए अलग सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता को बताते हुए 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। यह किताब हिंदी दलित आलोचना के क्षेत्र में मील का पत्थर साबित हुआ है। इसके साथ-साथ उन्होंने 'मुख्यधारा और दलित साहित्य', 'दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष और यथार्थ' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हिंदी दलित आलोचना-क्षेत्र को दिया। जयप्रकाश कर्दम की 'इक्कीसवीं सदी में दलित आलोचना: साहित्य एवं समाज चिंतन', 'धर्मान्तरण और दलित' और 'बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ' हिंदी दलित आलोचना की पुस्तकें हैं। 'इक्कीसवीं सदी में दलित आलोचना: साहित्य एवं समाज' पुस्तक वर्तमान समय के हिंदी दलित आलोचना की

स्थिति, उसकी दशा और दिशा की ओर इशारा करती है तो वहीं 'धर्मान्तरण और दलित' में दलितों के धर्म परिवर्तन के मुद्दें को उठाया गया है। श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'दलित क्रांति का साहित्य', 'हिंदी में दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अंबेडकर का प्रभाव' सूरजपाल चौहान की 'हिंदी में दलित कथाकारों की पहली कहानी', श्री माता प्रसाद की 'हिंदी काव्यधारा में दलित काव्यधारा', तेजसिंह की 'आज का दलित साहित्य' आदि हिंदी दलित आलोचना की महत्त्वपूर्ण और आवश्यक पुस्तकें हैं।

6.2 हिंदी दलित आलोचना में ओमप्रकाश वाल्मीकि का योगदान

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी दलित साहित्य के सिरमोर हैं। हिंदी दलित आलोचना के क्षेत्र में उनका गहरा हस्तक्षेप है। उनकी आलोचना दृष्टि से हिंदी दलित आलोचना को एक सार्थक पहचान मिली है। उनकी आलोचना दृष्टि हिंदी दलित आलोचना साहित्यादोलन में एक बड़ी कमी को पूरा करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आलोचना समाजशास्त्रीय आलोचना है। उनकी आलोचना उनके निजी जीवन के कटु एवं दग्ध अनुभवों से निकली है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आलोचना दलित समाज की पीड़ा, दुःख-दर्द, अपमान, उत्पीड़न, शोषण तथा उनके खिलाफ उठी आवाज़ की अभिव्यक्ति है। इसीलिए उनकी अभिव्यक्ति में एक आक्रोश और तीखापन है। यह आक्रोश और तीखापन परम्परा के प्रति है। उस परम्परा के प्रति, जिसने दलितों को सदियों से हाशिये पर रखा। ओमप्रकाश वाल्मीकि दुःख, दर्द, अपमान और अस्पृश्यता के दंश को निजी तौर पर भोगा है, इसलिए उनकी आलोचना दलितों की, दलित साहित्याकारों की और दलित आलोचना की एक संघर्षमय आपबीती प्रस्तुत करती है।

दलित साहित्य और दलित आलोचना के प्रतिमान खड़े करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित आन्दोलन की आधारभूत चिंताओं और दलित साहित्य के प्रमुख बिंदुओं को स्पष्ट किया है। उन्होंने दलित साहित्यिक आलोचना के लिए बुद्ध, अंबेडकर, ज्योतिबा फूले के दर्शन को आधार बनाने की वकालत की है। उनका कहना है कि साहित्य की आलोचना वर्ण-व्यवस्था के विरोधी तत्त्व के आधार पर हो, जहाँ जातिवाद और साम्प्रदायिक मूल्य का स्थान शूण्य हो। दलित आलोचना के प्रतिमानों की स्थापना में उन्होंने स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय की पक्षधरता को आधार बनाया है, जिसमें सामाजिक बदलाव की आकांक्षा प्रबल दिखाई देती है। वे कहते हैं पूंजीवादी शक्तियों के बनाये ढाँचे का प्रतिरोध दलित आलोचना का प्रमुख प्रतिमान होना चाहिए, जिससे सामंतवाद और ब्राह्मणवाद विरोधी चेतना पुष्ट करेगी। साहित्य की आलोचना किसी नायक के महिमा मंडन से इतर हो। उसकी व्याख्या और विश्लेषण नायकत्व की अवधारणा से मुक्त रहकर ही की जाए। ओमप्रकाश

वाल्मीकि जी साहित्यिक कृति की समीक्षा शास्त्रीय परीपाटी से करने के विरोधी है। खासकर रामचंद्र शुक्ल विरचित महाकाव्यात्मक दृष्टि से तो बिल्कुल नहीं। इस तरह से वाल्मीकि जी पारम्परीक साहित्यिक विधा के विरोधी ठहरते हैं। उनके द्वारा प्रस्तावित दलित आलोचना के प्रतिमान किसी भी प्रकार की शास्त्रीय आलोचना के प्रतिमान को निरस्त कर एक स्वतंत्र और विवेकसम्मत आलोचना दृष्टि बनाने की थी। उपरोक्त बिंदुओं से ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की आलोचना दृष्टि का ज्ञान होता है। जो समाजशास्त्रीय आलोचना का ढाँचा है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आलोचना दृष्टि हिंदी साहित्य के पारम्परिक आलोचना की संरचनाओं को तोड़ती है और उनके प्रभुत्ववादी निर्मितियों को खारिज करती है। उन्होंने अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से दलित चिंतन के नये आयाम का विस्तार किया है। इससे साहित्य में ऐसी चेतना का विस्तार हुआ है, जो पारम्परिक और स्थापित साहित्य को आत्मविश्लेषण के लिए बाध्य करती है और झूठी तथा अतार्किक मान्याताओं का विरोध करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने अपनी समीक्षात्मक और आलोचनात्मक दृष्टि से भावी दलित आलोचकों के लिए आलोचना के द्वार खोलने का कार्य किया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने अपने जीवन काल में तीन आलोचना की पुस्तकें लिखी हैं-

1. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र

2. मुख्यधारा और दलित साहित्य

3. दलित साहित्य : अनुभव, संघर्ष और यथार्थ

ये तीनों पुस्तकें ओमप्रकाश वाल्मीकि के प्रखर आलोचना-दृष्टि का प्रमाण है। ये तीनों आलोचनात्मक पुस्तकें उन्हें एक सशक्त और अनिवार्य आलोचक के रूप में स्थिापित करती है। उनकी किताबें दलित साहित्य के समीक्षात्मक व आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में सक्षम है। अपनी तार्किकता, आलोचनात्मक दृष्टि और अपने मूल्यबोध के लिहाज़ से ये तीनों कृतियाँ हिंदी दलित आलोचना के क्षेत्र में एक नए प्रतिमान की स्थापना करती हैं। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि भावी दलित आलोचकों की पीढ़ी के लिए आलोचना के द्वार खोलती है।

6.2.1 दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र

हिंदी साहित्य में दलित साहित्य के लिए एक अलग सौन्दर्यशास्त्र की मांग कुछ दशकों से उठ रही थी। हिंदी में 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' की चर्चा उस समय और तेज हुई जब मराठी के आलोचक शरद पटील ने अपनी पुस्तक 'अब्राह्मणी साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' लिखा। शरद पटील ने अपनी पुस्तक 'अब्राह्मणी साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में दलित साहित्य के लिए अलग सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा –''प्रतिक्रांति के साहित्य के पास सौन्दर्यशास्त्र का हथियार है तो विद्रोही साहित्य के पास वह क्यों नहीं है, इस पर विचार करना चाहिए।''[4] उन्होंने सौन्दर्यशास्त्र को साहित्य का हथियार बताया। उन्होंने ब्राह्मणी साहित्य को 'प्रतिक्रांति' की संज्ञा दी और दलित साहित्य को 'विद्रोही साहित्य' का। शरद पटील से प्रभावित होकर मराठी दलित लेखक शरण कुमार लिम्बाले ने भी 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' लिखा। तद्परान्त हिंदी साहित्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' लिखा। लेकिन स्वयं ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य और दलित आलोचना के संदर्भ में अपनी पुस्तक को अंतिम और एक मात्र सौन्दर्यशास्त्र की पुस्तक नहीं मानते हैं। अपनी एक साक्षात्कार में 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' के प्रश्न में कहते हैं -''यह सही है कि सौन्दर्यशास्त्र पर लगातार काम करने की जरूरत है। जो एक किताब या एक व्यक्ति के द्वारा नहीं बनाया जा सकता है। यह एक सामूहिक विचार है, जो एक प्रक्रिया के तहत ही रचनात्मक रूप ग्रहण करेगा। मैंने जब यह पुस्तक लिखी थी तो दलित-विमर्श के नाम पर अनेक भ्रम फैलाए जा रह थे। यह पुस्कत उन भ्रमों को दूर करने की कोशिश भर है। उन पाठकों, लेखकों, आलोचकों के सामने एक खाका रखने का प्रयास किया था, जो दलित साहित्य आन्दोलन में रुचि रखते हैं।''[5] इस तरह से ओमप्रकाश वाल्मीकि की आलोचना दृष्टि हिंदी दलित साहित्य आन्दोलन की एक बड़ी कमी को पूरा करती है।

सौन्दर्य अंग्रेज़ी के 'एस्येटिक' शब्द का हिंदी अनुरूप शब्द है, जो यूनानी के 'एस्थेटिक' शब्द से निकला है और जिसका अर्थ 'इंद्रियानुभव' होता है। सौन्दर्यशास्त्र विज्ञान नहीं, इसका सम्बंध मनुष्य की संवेदना और भावना से होता है। सौन्दर्यशास्त्र के अंतर्गत सौन्दर्य का प्रभाव उत्पन्न करने वाले घटक, सौन्दर्य निर्मिति, सौन्दर्य का मूल्यांकन इत्यादि प्रश्नों पर विचार किया जाता है। इसमें यह प्रयास किया जाता है कि सौन्दर्य जो मूलतः 'इंद्रियानुभव' है उसे यथासंभव सार्वजनीय वस्तुनिष्ठ रूप दिया जाय। इस प्रयास में जो सौन्दर्य संबंधी विवेचन, विश्लेषण, मूल्यांकन होता है उसे सौन्दर्यशास्त्र कहा जाता है।

साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र कहने के साथ ही हमारा ध्यान सौन्दर्य की तरफ भागने लगता है। हमारे मन-मस्तिष्क में सौन्दर्य-वृद्धि के घटक जैसे प्रतीक, बिम्ब, छंद, अलंकार, कल्पना आदि की छवि बनने लगती है, क्योंकि हमारी परम्परा यही रही है और हमें यही सिखाया गया है। लेकिन दलित आलोचक ओमप्रकाश वाल्मीकि इसके पक्ष में नहीं है। वे साहित्य के लिए सामाजिक यथार्थ को अधिक महत्त्व देते हैं। अपनी पुस्तक ‘दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र’ की भूमिका में वे लिखते हैं –‘‘सौन्दर्यशास्त्र की विवेचना में ‘सौन्दर्य’, ‘कल्पना’, ‘बिम्ब’, और ‘प्रतीक’ को प्रमुख माना है विद्वानों ने जबकि सौन्दर्य के लिए सामाजिक यथार्थ एक विशिष्ट घटक है। कल्पना और आदर्श की नींव पर खड़ा साहित्य किसी भी समाज के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकता है। साहित्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता और वर्तमान की दारुण विसंगतियाँ ही उसे प्रासंगिक बनाती है।’’[6] दलित साहित्य जीवनवादी साहित्य है। दलित साहित्य के लिए सामाजिक यथार्थ महत्ता रखती है। उसके यहाँ ‘कल्पना कानन की रानी’ नहीं होती और ना ही साहित्य रचना के लिए भारी भरकम आदर्श की आवश्यकता होती है। क्योंकि दलित साहित्य का उद्देश्य सौन्दर्य का प्रतिपादन करना नहीं बल्कि सौन्दर्य पर प्रहार करना है। सौन्दर्य के सम्मोहन से इसका दूर-दूर तक कोई वास्ता ही नहीं है। बकौल डॉ. एन. सिंह ‘‘दलित साहित्य का शब्द-सौन्दर्य प्रहार में है, सम्मोहन में नहीं। वह समाज और साहित्य में शताब्दियों से चली आ रही सड़ी-गली परम्पराओं को बेदर्दी से चोट करता है। वह शोषण और अत्याचार के बीच जीवन जीनेवाले दलित को लड़ना सिखाता है, वह सिर से पत्थर ढोने वाली मजदूर महिला को उसके अधिकारों के विषय में बतलाता है। उसे धर्म की भूल-भुलैया से निकालकर शोषण से मुक्ति का मार्ग दिखाता है। उसके लिए जिस शाब्दिक प्रहार क्षमता की आवश्यकता है, वह उसमें है और यही दलित साहित्य का शब्द-सौन्दर्य है।’’[7]

मुख्यधारा का सौन्दर्यशास्त्र संस्कृत और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के मेल से बना है, जिसका मूल आधार सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् है। जबकि दलित साहित्य का वैचारिक आधार डॉ. अंबेडकर का जीवन-संघर्ष और बुद्ध का दर्शन रहा है, जो सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम को नहीं मानता। अतः ओमप्रकाश वाल्मीकि पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। दलित आलोचकों ने सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम के प्रतिमानों को जड़ से उखाड़ फेंका है। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं -‘‘हिंदी साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र संस्कृत और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र पर आधारित है। इसलिए उसकी कसौटियाँ दलित साहित्य के मूल्यांकन में अक्षम साबित होती है। संस्कृत साहित्य का मूल आधार सामंतवादी और ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण है। उसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य के सौन्दर्यदृष्टि भी पूंजीवादी एवं साम्राज्यवादी है।’’[8] इस तरह से देखें तो जिस साहित्य का आधार ही सामंतवाद, पूंजीवाद और

साम्राज्यवाद हो, भला ऐसा सौन्दर्यशास्त्र किस तरह से दलित साहित्य का मूल्यांकन कर पायेगा? दलित साहित्य का आदर्श अंबेडकरवाद है, जो ब्राह्मणवाद और वर्णव्यवस्था का कड़ा विरोधी है और सामंतवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की जडें कहीं न कहीं ब्राह्मणवाद से जुड़ी हुई है। ब्राह्मणवाद पर खड़ा सौन्दर्यशास्त्र जिस सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम की बात करता है वास्तव में वह सत्य नहीं है। यह सम्पूर्ण भारत की जनता का 'संचित प्रतिबिम्ब' नहीं है। उसमें मात्र 15 प्रतिशत सवर्णों की छवि है जबकि 85 प्रतिशत जनता अभी भी उत्पीड़न और कष्ट में है।

दलित साहित्य आकृतिनिष्ठ साहित्य नहीं है, यह आशयनिष्ठ साहित्य है। दलित साहित्य किसी भी कृति के आकार को महत्ता नहीं देती, बल्कि उसके लिए आशय महत्ता रखती है। बकौल वाल्मीकि "दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र पर विचार करने के लिए किसी भी कृति के 'आकार' और 'आशय' को दृष्टि में रखना होगा। जिस रूप को हम देखते हैं - वह उस कृति का 'आकार' होता है। 'आकार' में जो सारतत्व या सारत्व बोध विद्यमान होता है, वह 'आशय' कहलाता है। हिंदी साहित्य हो या संस्कृत साहित्य वह आकृतिनिष्ठ ही है। वहाँ आकार की प्रधानता है। शब्द की रमणीयता समीक्षकों के लिए बौद्धिक विलास का काम करती है।''[9]

पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र अभी भी काव्यशास्त्रीय श्री पंडित जगन्नाथ के मंत्र 'वाक्यं रसात्मक काव्य' को ही दोहराता चला आ रहा है। परम्परावादी आलोचक साहित्य का उद्देश्य अभी भी 'रसानुभूति' और 'आनंद' को ही मानते आये हैं। पारम्परिक साहित्य के लिए अभी भी 'रसोत्पत्ति' और 'साधारणीकरण' जैसे सिद्धान्त की महत्ता है। लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि 'रसोत्पत्ति', 'साधारणीकरण' आदि सिद्धान्तों को पूर्वग्रहों से ग्रसित मानते हैं। वह आनन्द को क्षणिक मानते हैं। वे कहते हैं -"ललित साहित्य या पारम्परिक साहित्य का मूल प्रयोजन क्या है-'आनंद' के लिए रसोत्पति। यह आनन्द-रस क्षणिक होता है जिसे दलित साहित्य स्वीकार नहीं करता। एक दलित जिस उत्पीड़न को भोगकर दुःख, वेदना से साक्षात्कार करता है, वह आनंददायक कैसे हो सकता है?''[10] दलित साहित्य का जन्म ही उत्पीड़न की कोख से हुई है। विद्रोह उसका मुख्य स्वर है। पीड़ा, अत्याचार और शोषण उसकी हृदय में बसा हुआ है, इसीलिए उसकी भाषा में भी आक्रोश है। ऐसी स्थिति में दलित साहित्य आनन्द की रसानुभूति कैसे कर सकता है ? यहाँ हजारों सालों का शोषण, उत्पीड़न, पीड़ा और अत्याचार अपने खुरदरापन में यथार्थ रूप में उभर कर आया है।

दलित साहित्य का जीवन-मूल्य ही अलग है। यह डॉ. अम्बेडकर के जीवन-दर्शन और बुद्ध के तत्त्व ज्ञान से संचालित होता है। अतः इसलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य के मूल्यांकन, विवेचन और विश्लेषण के लिए एक अलग सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता महसूस करते हैं और इसके

लिए अलग सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण भी करते हैं क्योंकि अलग सौन्दर्यशास्त्र की परिकल्पना से हिंदी साहित्य का विघटन नहीं विस्तार होगा लेकिन मुख्यधारा के आलोचक यह मानने को तैयार ही नहीं। इसीलिए वाल्मीकि जी दलित जीवन और उनसे जुड़े साहित्य के मूल्य को निम्नलिखित बिंदुओं में रेखांकित करते हैं-

- "समता, स्वतंत्रता, बंधुता, न्याय के जीवन-अनुभव, अनुभवजन्य आशय तथा उस आशय की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति।
- संस्कृति और धर्म के नाम पर वास्तविकता को छिपाकर रखे गए ढोंग को नकारना।
- कल्पनाजन्य प्रतिमानों का निषेध। जैसे 'अमृत' मधुर पेय की कल्पना लेकिन उसका आस्वादन किसी ने नहीं जाना।
- नित्य परिवर्तनीय के आधार पर जीवन-मूल्यों का मूल्यांकन।
- बंधन-मुक्त अभिव्यक्ति और अनुभवों का सच्चापन, जैसा देखा, भोगा उसका वैसा चित्रण। शब्द केवल माध्यम है। शाब्दिक आडम्बर निर्माण में असमर्थ।''[11]

दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र विद्रोह और विकल्प का सौन्दर्यशास्त्र है। यह शोषण, दमन, अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध निर्मित सौन्दर्यशास्त्र है। यह मुख्यधारा के प्रतिरोध में उपजा सौन्दर्यशास्त्र है। हिंदी साहित्य के पारम्परिक आलोचकों ने अपनी आलोचना दृष्टि से दलित नजरिये का हमेशा से अपेक्षा किया है। दलित साहित्य की आलोचना और मूल्यांकन में उनका पारम्परिक पैमाना अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। हिंदी के तथाकथित आलोचक दलित साहित्य को अपनी कसौटी में कसने से नकाम हुआ है। इसलिए दलित साहित्य की सही आलोचना, मूल्यांकन और उसके मर्म को समझने के लिए एक अलग सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता है। लेकिन कोई भी परिवर्तन एकाएक नहीं होता। परिवर्तन आने में समय लगता है। इसी समय की प्रतीक्षा में दलित साहित्य और उसका सौन्दर्यशास्त्र है। मैनेजर पांडेय कहते हैं -"कोई भी सौन्दर्यशास्त्र एक दिन में नहीं बनता। प्रतिरोध और विकल्प का सौन्दर्यशास्त्र तो और भी नहीं। वैसे तो हिंदी में कोई विकसित सौन्दर्यशास्त्र नहीं है, लेकिन जो है उसके पीछे एक ओर संस्कृत के काव्यशास्त्र की लम्बी परम्परा है तो दूसरी ओर पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र का प्रभाव। स्वयं पश्चिम में सौन्दर्यशास्त्र का विकास कई सदियों में हुआ है। जो लोग कहते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र की जाति, वर्ग और विचारधारा से क्या लेना-देना, वे या तो बेवकूफ हैं या बदमाश। सौन्दर्यशास्त्र कला की अलौकिक अनुभूति नहीं है। वह कलात्मक सौन्दर्य के बोध और मूल्यों का शास्त्र है, और बोध की प्रक्रिया तथा मूल्यों के निर्माण में जाति, वर्ग और लिंग से जुड़ी

विचारधाराओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है...इसलिए दलित सौन्दर्यशास्त्र का विकास दलित समाज, उसकी चेतना, संस्कृति, विचारधारा और दलित सौन्दर्यशास्त्र के विकास पर निर्भर है, जो एक लम्बी प्रक्रिया में होगा।''[12] इस दृष्टि से देखें तो ओमप्रकाश वाल्मीकि की पुस्तक 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' हिंदी दलित साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी कमी को पूरा करती है। यह पुस्तक हिंदी दलित आलोचना के नाम पर एक नया प्रतिमान गढ़ती है।

6.2.2 मुख्यधारा और दलित साहित्य

भारतीय समाज-व्यवस्था जाति पर आधारित है। जहाँ 'जाति' एक ठोस सत्य है। यहाँ प्रत्येक मनुष्य को उनकी जाति के आधार पर पहचानी जाती है। जाति के कारण ही लोगों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि जीवन प्रभावित होती है। इसके प्रभाव से हमारा साहित्य भी अछूता नहीं है। साहित्य में 'जाति' को एक धारदार हथियार के रूप में प्रयोग किया गया है। यह वर्चस्व स्थापित करने का एक सशक्त माध्यम बन गया है। इससे साहित्य में सवर्णों का एक छत्रछाया स्थापित हो गया है, जो अपने से इतर साहित्यकारों के साहित्य को साहित्य समझते ही नहीं। जिसके कारण साहित्य दो धुव्रों में बंट गया है - मुख्यधारा का साहित्य और दलितों द्वारा लिखा साहित्य अर्थात् दलित साहित्य।

प्रस्तुत पुस्तक 'मुख्यधारा और दलित साहित्य' में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने मुख्यरूप से 'मुख्यधारा के यथार्थ' और 'मुख्यधारा के प्रति दलित दृष्टिकोण' को अपना चिंतन का विषय बनाया है। इसमें उन्होंने दलित साहित्य और दलित विमर्श से जुड़े महत्त्वपूर्ण लेखों को शामिल किया है, जो समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। इन लेखों के माध्यम से ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित साहित्य और दलित मुक्ति के प्रश्नों को उठाया है। इसके साथ-साथ उन्होंने साहित्य की सामाजिकता और उनके सरोकार को पुनस्थापित करने का प्रयास भी किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने प्रेमचंद के दलित संदर्भों को भी व्याख्यायित किया है। भारतीय समाज-व्यवस्था के अंतद्र्वंद्व और उससे मुक्ति का प्रश्न आदि पर विश्लेषणात्मक विवेचन किया है। इन सभी बिंदुओं पर चर्चा करते हुए उन्होंने हिंदी साहित्य में समाजशास्त्रीय आलोचना के अभाव को दर्शाया है और इसकी आवश्यकता पर बार-बार प्रश्न उठाया है।

6.2.3 दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष और यथार्थ

'दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष और यथार्थ' पुस्तक मात्र ओमप्रकाश वाल्मीकि के जीवन के अनुभव और संघर्ष का यथार्थ ही नहीं बल्कि समस्त दलित साहित्यकारों के जीवन के अनुभव और

संघर्ष का यथार्थ प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक दलित साहित्य की अंतःचेतना को समझने का एक बेहतरीन विकल्प है। एक दलित कवि, कहानीकार को अपनी रचना-प्रक्रिया के द्वारा दलित साहित्य की आंतरिकता की तलाश करने के लिए कई स्तर पर संघर्ष करना पड़ता है, उन्हीं अनुभवों और संघर्षों का लेखा-जोखा रूप यह पुस्तक है। आज भी हमारे समाज में जाति-व्यवस्था का अमानवीय रूप देखने को मिलता है। आजादी के सत्तर साल बाद भी एक दलित को पीने के पानी तक के लिए लड़ना पडता है। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ता है। दलित साहित्यकार किसी समूह, किसी जाति विशेष या संप्रदाय के खिलाफ नहीं है। अगर दलित साहित्यकार किसी का विरोध करता है तो वह है हमारी व्यवस्था। व्यवस्था चाहे सरकारी हो या गैर सरकारी, सामाजिक संगठन का हो या धार्मिक संस्था। दलित साहित्य उन सारी सोच का विरोध करता है जो दलितों का शोषण और उत्पीड़न करता है। दलित साहित्य का मुख्य उद्देश्य अपनी अस्मिता की खोज करना है, जो हजारों सालों के इतिहास में दबा दी गई है। मैं कौन हूं ? दलित साहित्य का मुख्य प्रश्न है।

6.3 दलित साहित्य का आलोचनात्मक प्रतिमान :

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से उन तमाम प्रश्नों पर विस्तार से चर्चा किया है, जिसे दलित साहित्य या दलित विमर्श के तहत हमेशा उठाया जाता है। उन्होंने मुख्यधारा के साहित्य को आलोचना की कसौटी में कसते हुए दलित साहित्य के लिए कई नए प्रतिमान गढ़े हैं। दलित साहित्य की अवधारणा, दलित साहित्य की प्रासंगिकता, दलित चेतना, उसमें अभिव्यक्त पीड़ा, दलित साहित्य की वैचारिकता और दार्शनिक आधार, दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता, दलित साहित्य और राजनीति, दलित साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक मान्यताएँ, दलित साहित्य की भाषा, दलित साहित्य में बिंब और प्रतीक, दलित साहित्य में मिथक आदि दलित साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर आलोचनात्मक टिप्पणी किया है। इस तरह से उन्होंने दलित साहित्य के लिए एक अलग सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण किया है। दलित साहित्य के लिए नए प्रतिमान गढ़कर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने एक स्तर से दलित-साहित्य के इतिहास लेखन के कार्य-भार को पूरा किया है।

6.3.1. दलित साहित्य की अवधारणा

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने अपनी पुस्तक ‘दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र’ में दलित साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट किया है। उन्होंने दलित साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट करने के पहले ‘दलित’ शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया है। उन्होंने ‘दलित’ शब्द का अर्थ दलन, शोषण, दमन, उपेक्षित, घृणित, कुचला हुआ आदि से लिया है, जिसका सदियों से सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक शोषण

होता आया है और जिसे भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति के अंतर्गत रखा गया है। उन्होंने दलित शब्द को परिभाषित करते हुए कहा हैं –‘‘दलित शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयोग होता है जो समाज-व्यवस्था के तहत सबसे निचली पायदान पर है। वर्ण-व्यवस्था ने जिसे अछूत या अन्त्जय की श्रेणी में रखा। उसका दलन हुआ। शोषण हुआ, इस समूह को ही संविधान में अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है जो जन्मना अछूत है।’’[13]

जब ‘दलित’ शब्द साहित्य के साथ जुड़ता है तो एक नयी साहित्यिक धारा का निर्माण होता है, जिसे हिंदी साहित्य में ‘दलित साहित्य’ का नाम दिया गया है। दलित साहित्य शोषण और अन्याय के विरुद्ध खड़ा साहित्य है। यह सामंतवादी व्यवस्था और ब्राह्मणवादी व्यवस्थता के विरुद्ध एक मोर्चा है, जो मनुष्य की मुक्ति की बात करता है। जिसमें समता, स्वतंत्रता और विश्वबंधुता भाव है। जिसमें मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं की सजीव अभिव्यक्ति हुई है और जिसके मूल में अंबेडकरवादी विचार है, असल में यही दलित साहित्य है। दलित साहित्य जन साहित्य है। यह शोषित, उपेक्षित, दमित, प्रताड़ित जनों का साहित्य है। बकौल ओमप्रकाश वाल्मीकि –‘‘दलित साहित्य जन साहित्य है यानी मास लिटरेचर (Mass Literature)। सिर्फ इतना ही नहीं, लिटलेचर ऑफ एक्शन (literature of Action) भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोशजनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य।’’[14]

6.3.2 दलित चेतना

दलित चेतना का संबंध दलितों के इतिहास, उनके शोषण और उत्पीड़न के विविध आयामों को सचेत होकर जानना और समझना है। दलित चेतना का सरोकार भारतीय संस्कृति द्वारा निर्मित आदर्शों, मान्यताओं, स्थापनाओं आदि का विरोध करना है। इसके मूल में दलित अस्मिता का प्रश्न है। इसका सरोकार ‘मैं कौन हूँ’ प्रश्न से जुड़ा है। ओमप्रकाश वालमीकि दलित चेतना को विस्तृत रूप में समझाते हुए लिखते हैं –‘‘दलित की व्यथा, दुःख, पीढ़ा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित चेतना नहीं है, या दलित पीढ़ा का भावुक और अश्रु-विगलित वर्णन, जो मौलिक चेतना में विहीन हो, चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से होता है जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका की छवि के तिलस्म को तोड़ती है। वह है दलित चेतना। दलित मतलब मानवीय अधिकारों से वंचित, सामाजिक तौर पर जिसे नकारा गया हो। उसकी चेतना यानी दलित चेतना।’’[15] दलित की व्यथा, दुःख और उसके शोषण को दिखाना मात्र दलित चेतना नहीं होता। मौलिक दलित चेतना उस व्यथा, दुःख और शोषण को समझना है, जो एक दलित सदियों से सहता आ रहा है। उस शोषण से ‘मुक्ति की कामना’ ही मूल दलित चेतना है।

'दलित चेतना' दलित साहित्य की 'आत्मा' है। दलित चेतना ही दलित साहित्य को दलितों के नजदीक लाता है और दलित चेतना ही है, जो दलित साहित्य को हिंदी साहित्य से अलगाता है। हिंदी साहित्य के तथाकथित साहित्यकार भी दलितों पर अपनी कलम चलाते हैं, उसके दुःख, दर्द, व्यथा की अभिव्यक्ति साहित्य में करते हैं। बावजूद ये साहित्यकार दलितों के अंदर चेतना जगाने में असमर्थ रहे हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं –"दलित-जीवन और उनकी समस्याओं पर गैर-दलितों, जैसे प्रेमचंद, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, गिरिराज किशोर, जगदीश चंद्र आदि ने लिखा है और दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराज सिंह 'बेचैन' आदि ने भी लिखा है। किंतु इनकी अन्तर्वस्तु में इसके द्वारा अर्जित और प्रतिष्ठित मूल्यों में और उस अनुभव की प्रक्रिया की व्याख्या में गहरा फर्क है। जाहिर है, इन मूल्यों की प्रकृति और प्रक्रिया में वर्ण-भेद अहम भूमिका अदा करता है। उनके अपने आग्रह और संस्कारिक मूल्य, मान्यताएँ कृति की समग्रता में अपने निष्कर्ष स्थापित करती हैं, उसे प्रभावित करती हैं। यह सब एक विशिष्ट सतर्कता के रूप में प्रस्तुत होकर अपनी विशिष्टता रेखांकित करता है।''[16] दलित साहित्य के मूल में अंबेडकवादी विचारघारा काम करती है। यह बौद्ध-दर्शन से प्रभावित और प्रेरित है। लेकिन गैर दलित साहित्यकार जब भी इस विषय पर अपनी कलम चलाते हैं तो उनके मूल में पारम्परिक विचारधारा काम करता है अर्थात् इन साहित्यकारों की विचारधारा के मूल में मार्क्सवाद रहता है या फिर गांधीवाद। जिसकी चेतना के मूल में 'वर्ग' रहता है न कि 'वर्ण' और अंबेडकरवादी विचारधारा 'वर्ण' को महत्ता देती है। दलित चेतना अपने लिए खाध-पानी अम्बेडकर के जीवन-दर्शन से पाता है। इसी को आधार बनाकर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित चेतना को निम्नलिखित बिंदुओं में दिखाया है

- "मुक्ति और स्वतंत्रता के सवालों पर डॉ. अंबेडकर के दर्शन को स्वीकार करना।
- बुद्ध का अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टिबोध, पाखंड-कर्मकांड विरोध।
- वर्ण-व्यवस्था विरोध, जातिभेद-विरोध, साम्प्रदायिकता विरोध।
- अलगाववाद का नहीं, भाईचारे का समर्थन।
- स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय की पक्षधरता।
- सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्धता।
- आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद का विरोध।
- सामंतवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध।
- अधिनायकवाद का विरोध।

- महाकाव्य की रामचंद्र शुक्लीय परिभाषा से असहमति।
- पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र का विरोध।
- वर्णविहीन, वर्गविहीन समाज की पक्षधरता।
- भाषावाद, लिंगवाद का विरोध।''[17]

दलित साहित्य दलित समाज की वेदना एवं पीढ़ा की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। वह स्वतंत्रता, बंधुत्व, समानता और न्याय की स्थापना के लिए कटिबद्ध है। दलित उस समाज के प्रति विद्रोह प्रकट कर रहा है, जिसने सदियों से दलितों को मनुष्य जैसा जीवन जीने से वंचित रखा है, जिसने उसकी जिन्दगी को अन्याय, अपमान, बेबसी, लाचारी, गरीबी और गुलामी का पर्याय बना दिया था। इसलिए सवर्णों ने उसके साथ किए हुए अत्याचार, अन्याय के विरोध में तथा विषमपूर्ण समाज व्यवस्था, जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था के प्रति विद्रोह दलित साहित्य में दिखाई देता है। मानव जीवन को वह व्यर्थ न समझकर मानव की महानता को स्वीकार करता है। वह अतीत की वेदना, दर्दनाक पीड़ा को व्यक्त करते हुए वर्तमान का स्वागत करता है। डॉ. अंबेडकर के विचारों को स्वीकार करते हुए और बुद्ध के वैज्ञानिक दृष्टिबोध को अपनाते हुए दलित समाज में आत्मसम्मान, अस्मिता, आत्मबल, आत्मविश्वास पैदा करने को दलित साहित्य प्रयासरत है। इन सारी बिंदुओं को ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी पैनी नजर से दिखाने का प्रयास करते हैं। इसलिए वह ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो सर्वग्राही हो, क्योंकि दलित साहित्य भाषावाद के खिलाफ भी अपनी आवाज बुलंद करता है।

6.3.3 दलित साहित्य की वैचारिकता और दार्शनिकता

दलित साहित्य का वैचारिक आधार डॉ. अम्बेडकर का जीवन-दर्शन है तो वहीं यह बौद्ध-दर्शन से प्रभावित और प्रेरित है। इसके साथ-साथ यह ज्योतिबा फुले के जीवन-संघर्ष से पे्ररणा लेती है। इन तीनों इतिहास पुरुषों की विचारधारा दलित साहित्य के लिए प्रकाश-पुंज का काम करती हैं। इन्हीं विचारधाराओं से शक्ति पाकर दलित साहित्य आज भी अपनी प्रगति की राह में अग्रसर है। इन्हीं बातों का हवाला देते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं –"दलित साहित्य को डॉ. अंबेडकर के जीवन-दर्शन ने वैचारिक ऊर्जा दी है और तथागत बुद्ध की दार्शनिकता ने उसे सामाजिक दृष्टि दी है। साथ ही ज्योतिबा फुले के जीवन-संघर्ष से उसे गहन प्रेरणा मिली है।''[18] दलित साहित्य के मूल में दलित चेतना है और दलित चेतना का संबंध अंबेडकर का जीवन-संघर्ष, बुद्ध का अनीश्वरवाद, अनात्मवाद और वैज्ञानिक दृष्टिबोध से है। वर्ण व्यवस्था का विरोध और जाति व्यवस्था का खंडन जिसका प्रथम उद्देश्य है और बदले में समाज में स्वतन्त्रता और न्याय को स्थापित करना है। दलित साहित्य मावन

समाज के प्रति प्रतिबद्ध है। सामाजिक प्रतिबद्धता ही दलित साहित्य का धर्म और सौन्दर्य है। इसलिए डॉ. सी. बी. भारती लिखते हैं –"प्रतिबद्धता ही दलित साहित्य का सौन्दर्य विधान है। दलित साहित्य-लेखन दलित अस्मिता की तलाश है...यह सामाजिक परीक्षण व उनके छिन्न-भिन्न कर देने की एक अनबुझी प्यास है। वर्ण-व्यवस्था से उपजी अमानवीय त्रासदी से मुक्ति की छटपटाहट ही दलित साहित्य का मूल स्वर है। जातिविहीन समाज की संरचना ही इसका मूल प्रतिपाद्य है।''[19]

दलित साहित्य और उसकी अन्तर्धारा को समझने के लिए सबसे पहले उसकी वैचारिकता, उसका दर्शन और उसके सामाजिक दृष्टिकोण को समझना जरूरी है। साहित्य की वैचारिकता और उसके दर्शन में ही साहित्य की मूल प्रवृत्ति छुपी रहती है और किसी भी साहित्य की मूल प्रवृत्ति को समझे बिना उस साहित्य में अभिव्यक्त अनुभवों की गहनता को समझना संभव नहीं। इसलिए अर्जुन डाँगले कहते हैं –"कलाकृति की मूल प्रवृत्ति को न समझ सकें तो उस कलाकृति की लय, उसके अनुभवों की प्रवृत्ति, संरचना, अनुभवों की गहनता आदि को समझना सम्भव नहीं है।''[20] दलित साहित्य समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के पक्षधर का साहित्य है। लेकिन "हिंदी साहित्य में ऐसे अनेक साहित्यकार हैं जो अपनी रचनाओं में प्रगतिशील, मार्क्सवाद या जनवादी दिखाई पड़ते हैं लेकिन वे वर्तमान सामाजिक ढाँचें, धार्मिक विचारधारा, जातिवाद, वर्ण-वयवस्था, अछूतों पर अत्याचार का विरोध करने में बेहद कमजोर साबित होते हैं। उनमें से कोई भी धर्म के खिलाफ अपना स्पष्ट रुख नहीं अपनाता। ऐसे रचनाकार व्यक्तिगत जीवन में किसी धर्म, सम्प्रदाय के अनुयायी होते हैं। वैचारिक दृष्टि से समानता के पक्षधर भी दिखाई पड़ते हैं। वास्तविकता में वे यथास्थितिवादी होते हैं।''[21] ऐसा इसलिए क्योंकि गैर-दलित साहित्यकारों के लिए 'दलित' मात्र एक साधन है। इनके लिए दलित 'ओबजेक्ट' है, 'सबजेक्ट' नहीं। उनकी रचना की अंतर्वस्तु में वह मूल्य नहीं रहता जो एक दलित साहित्यकार की रचनाओं में होता है। इसीलिए डॉ. विमल कुमार, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की कविता 'विधवा' का हवाला देते हुए कहते हैं –"निराला की 'विधवा' कविता पर ब्रह्मसमाज का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के अनुभूतिवाद, शक्तिपूजा, उदार उपासना, सर्वधर्म-समादर इत्यादि ने निराला के काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया है। 'राम की शक्तिपूजा' पर रामकृष्ण परमहंस देव और विवेकानन्द के शक्ति सिद्धांत का प्रभूत प्रभाव है। निराला ने 'प्रबंध-पद्म' नामक संग्रह स्वामी सारदानन्द को समर्पित किया है।''[22]

6.3.4 दलित साहित्य की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ

मुख्यधारा के आलोचक दलित साहित्य के शिल्प पर शुरूआत से ही प्रश्न उठाते आ रहे हैं। इसके शिल्प की गुणवत्ता पर हमेशा सवालिया निशाना साधा है। इसकी भाषा और शिल्प पर आरोप कसते

रहे हैं। हिंदी समीक्षक दलित साहित्य के शिल्प पर सिर्फ आरोप ही नहीं उसे साहित्य की कोटी से खारिज भी करते हैं। इसलिए मुद्राराक्षस हिंदी के तथाकथित आलोचकों से यह प्रश्न पूछ ही लेते हैं "अक्सर यह प्रश्न भी उठता है कि दलित रचनाएँ गुणवत्ता की दृष्टि से कमजोर हैं। आखिर यह गुणवत्ता है क्या ! और हमेशा उस गुणवत्ता का धार्मिक निष्ठा के साथ पालन किया गया है ? छंद इस गुणवत्ता का अनिवार्य तत्त्व था पर आधुनिक कविता ने इसे छोड़ दिया। जिस अलंकार निर्भरता ने रीति साहित्य की गुणात्मकता के मानक स्थापित किए थे, अलंकारधर्मिता को वर्तमान साहित्य में कहाँ देखा जाएगा ? इस सदी के शुरू में खड़ी बोली को कविता के लिए घोर अनुपयुक्त माना जाता था पर आज कविता खड़ी बोली में ही लिखी जाती है।''[23] कहने का तात्पर्य आज साहित्य छंद, अलंकार के द्वंद्व से मुक्त हो चुका है। साहित्य रीतिकालीन भाव-बोध से ऊपर उठ चुका है। बावजूद इसके हिंदी के तथाकथित समीक्षक साहित्य में किस बात का हवाला देकर दलित साहित्य को खारिज करने में तुले हुए हैं। दलित साहित्य के खारिज पर अपनी बात रखते हुए मुद्राराक्षस आगे कहते हैं –"दरअसल कोई भी नया कथ्य अपने पूर्व की विचार परम्परा से विद्रोह करता है। उतनी सीमा तक परम्परा के सौन्दर्यबोध संबंधी मूल्यों को भी तोड़ता है। वह अपनी भाषा, अलंकारशास्त्र और अपना छंद-तंत्र बनाता है। कबीर ने यही किया था। उन्होंने संस्कृत का प्रयोग भी नहीं किया था और तत्कालीन सवर्ण कथ्य की अवधी और ब्रज को भी स्वीकार नहीं किया था। उन्होंने जिस भाषा का आविष्कार किया था, वह देश के बहुसंख्यक छंदों का स्वरूप भी उनका अपना था।''[24] अर्थात् दलित साहित्य अपने साथ नया कथ्य लेकर आया है और उन नए कथ्यों के सहारे पुराने सौन्दर्यबोध और उसके मूल्य पर प्रहार कर रहा है। दलित साहित्य का अपना अलग सौन्दर्यबोध है। उसका अपना अलंकार शास्त्र है और अपना छंद-तंत्र। दलित साहित्य अपनी अभिव्यक्ति के लिए सरल, सहज और सुबोध भाषा का प्रयोग करता है।

6.3.5 दलित साहित्य की भाषा

भाषा अभिव्यंजना का माध्यम है। दलित साहित्यकारों ने अपनी भावना और विचारों को प्रकट करने के लिए सर्वग्राही भाषा को चुना है। इन साहित्यकारों ने आम बोलचाल की भाषा को अपनाया है। दलित साहित्यकारों ने अपने अंदर दबी हजारों सालों की व्यथा, दुःख, पीड़ा को दलित समाज की भाषा में ही अभिव्यक्त किया है। उनकी भाषा में पीड़ा और दुःख के साथ-साथ आक्रोश और विरोध का स्वर भी है। दलित साहित्य में प्रयुक्त भाषा का संबंध दलित जीवन से है।

दलित साहित्य में भाषा अपने नग्न रूप में आयी है। उसमें किसी भी प्रकार के बनावटीपन और कल्पना का मिश्रण नहीं है। दलित साहित्य की भाषा भारतीय समाज के कटु यथार्थ से रूबरू

कराती है। इसमें अपने पाठक को झकझोरने की ताकत है। दलित साहित्य के मार्फत साहित्यकारों ने कुछ ऐसे-ऐसे शब्दों को साहित्य में जगह दी हैं, जिसे अभी तक साहित्य में नहीं सुना गया था। इस तरह की भाषा को अभी तक साहित्य में उतारने की हिमाकत किसी ने नहीं की थी। लेकिन दलित साहित्यकारों ने यह काम कर दिखाया। और शायद इसलिए कुछ आलोचक इसमें गंदी और अश्लीलता का आरोप लगाते हैं। लेकिन ऐसे आलोचकों के लिए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं – "दलित जिस परिवेश में जीवन जीते हैं, वहाँ गंदी गलियों में नंग-धड़ंग घूमते बच्चे हैं, दूषित वातावरण है जिसे पारम्परिक आलोचक नहीं जानते। उस परिवेश की भाषा को अश्लील कहना पूर्वाग्रह ही कहा जाएगा।"[25]

दलित साहित्य की भाषा पर सपाटबयानी का आरोप भी लगाया जाता है। हिंदी समीक्षक का मानना है कि साहित्य की भाषा में काव्यात्मकता का गुण होना चाहिए। जबकि दलित साहित्यकारों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए गद्यात्मक भाषा का प्रयोग किया है। लेकिन भाषा में गद्यात्मकता होने के बावजूद इसमें विरोध और नकार का भाव मुख्य रूप से आया है, जो उत्पीड़न और शोषण को अभिव्यक्त करने में सक्षम हुई है।

"शब्द ही तो थे

जो मनु स्मृति में लिखे गए

राम राज चला गया

पर शंबूक की चीख अभी बाकी है

जैसे दलितों की पीठ पर

चोट के निशान

शब्द सिसकते नहीं बोलते हैं

चोट करते हैं

जैसे दलित से हरिजन

और हरिजन से दलित।"[26]

प्रस्तुत पंक्ति मोहनदास नैमिशराय की 'शब्द' शीर्षक कविता से ली गयी है। हिंदी समीक्षकों के अनुसार यह कविता एकदम सपाटबयानी है। किसी आलोचनाशास्त्र की परीपाटी में यह कविता फीट नहीं बैठती है। लेकिन एक दलित के लिए इसमें प्रयुक्त होने वाला हर 'शब्द' उसे अपना अतीत याद दिलाता है। उनके पीठ पर अभी भी वह निशान है, जिसे हजारों सालों पहले सवर्णों ने दिया था। 'शब्द' यहाँ मौन नहीं, यह अपने 'दलित से हरिजन' और 'हरिजन से दलित' होने की व्यथा कथा को बयां कर रहा है।

6.3.6 दलित साहित्य में प्रतीक, बिम्ब और मिथक

दलित साहित्यकारों ने भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक, बिम्ब और मिथक का सहारा लिया है। लेकिन फर्क सिर्फ इतना है कि दलित साहित्यकारों ने पारम्परिक प्रतीक, बिम्ब और मिथक को छोड़कर अपने लिए नये प्रतीक और बिम्ब गढ़ें हैं। प्रतीक, बिम्ब और मिथक यहाँ अपने उद्दीपन रूप में है। ये तीनों, दलित अभिव्यक्ति को और प्रभावशाली बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। दलित साहित्यकारों ने प्रतीक का प्रयोग अपनी बात को स्पष्ट और प्रभावी ढंग से कहने के लिए किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कविता में सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने के लिए प्रतीक का प्रयोग किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता 'पेड़' के माध्यम से सवर्णों पर अपनी कविता रूपी बाण छोड़ते हैं। 'पेड़' यहाँ सवर्णों के प्रतीक के रूप में आया है। देखिए -

"पेड़, तुम उसी वक्त तक पेड़ हो

जब तक कि ये पत्ते, तुम्हारा साथ है

पत्ते झरते ही, पेड़ नहीं ठूँठ कहलाओंगे

जीते जी मर जाओगे।"[27]

प्रतीक के साथ-साथ दलित साहित्यकारों ने अपनी कविताओं में बिम्बों का प्रयोग भी किया है। बिम्ब यहाँ दलित जीवन की त्रासदी और उसके यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। दलित कवियों ने बिम्ब के माध्यम से पूरी स्थिति का चित्रण बड़े ही सहजता से किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कविता 'झाड़ूवाली' के माध्यम से समाज का त्रासद चित्र खींचा है

"रामेसरी के हाथ में थमी बाँस की मोटी झाड़ू

सड़क के ऊबड़-खाबड़ सीने पर

श्व श्व ध्वनि तैरती है

उड़ाती है धूल का गुबार।

धूल: जो सैकड़ों वर्षों से

जम रही है पर्त-दर-पर्त

फेफड़ों में रामेसरी के

रँग रही है श्वास नली को

चिमनी-सा

कारखाने से उठते धुएँ-सा।''[28]

दलित साहित्यकारों ने अपनी कविता में मिथक के रूप में इतिहास और पुराण से उन पात्रों को लिया है, जो अभी तक उपेक्षित था। ये उपेक्षित पात्र हैं कर्ण, एकलव्य, शंबूक। ये सभी पात्र दलित साहित्य में नायक की भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता 'शंबूक का कटा सिर' में शंबूक के माध्यम से एक दलित का विद्रोह, विक्षोभ की भावनाएं, अस्मिता की तलाश, अस्तित्व के लिए जूझते सरोकारों को रेखांकित किया हैं -

''शंबूक, तुम्हारा रक्त जमीन के अंदर

समा गया है,

जो किसी भी दिन

फूटकर बाहर आएगा

ज्वालामुखी बनकर।''[29]

इस तरह से ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी भाषा में नए बिम्बों, प्रतीकों और मिथकों के माध्यम से दलितों को एक नई दिशा देने का सफल प्रयास किया है। दलित साहित्य में प्रयुक्त बिम्ब, प्रतीक और मिथक योजना को देखकर रमणिका गुप्ता कहती हैं –''दलित साहित्य ने नए बिम्ब गढ़े, पौराणिक मिथकों की परिभाषा बदल डाली। नए मिथक बनाए, गौरवान्ति झूठ और आस्था पर चोट की और चमत्कार को तोड़ा। अनुभवों की प्रमाणिकता से दलित साहित्य में नया तेवर उभरा जो सीधे

मन को छूता है। विश्वसनीय है। यह वर्तमान साहित्य के लिजलिजेपन और बासीपन तथा एकरूपी, रसवादी प्रणाली से भिन्न है और चमत्कारी कल्पनाओं से बिल्कुल अलग होता है। इसके दायरे में अंधविश्वास, भाग्य, पूर्वजन्म के कर्म, धर्म या भगवान नहीं आते। यह प्रत्यक्ष यथार्थ से मुक्त है, जीवन्त है। जुल्मों से जूझते हुए, मरते हुए और जीते हुए के बीच के इर्द-गिर्द के स्त्री-पुरुष को सामने लाता है।''[30] इस तरह से अगर हम देखें तो दलित साहित्य ने अपने शिल्पगत प्रयोग से नयी भाषा, नया प्रतीक, नया बिम्ब, नया मिथक को गढ़ा है और अपने लिए मुख्यधारा से इतर रास्ता चुना है।

6.3.7 हिंदी समीक्षा और दलित साहित्य

समीक्षा साहित्य को पोषित करती है। यह साहित्य को समृद्ध बनाती है। समीक्षा किसी भी रचना को जांचने, परखने की कसौटी होती है। यह समय, समाज और साहित्य को आंकने का साधन होता है। समीक्षा रचना में व्यक्त मूल्य एवं वैचारिकता को व्याख्यायित करती है। इसके लिए समीक्षक के पास समीक्षा-दृष्टि के साथ-साथ बौद्धिक ज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान का होना अति आवश्यक है। बिना इसके समीक्षक की समीक्षा मूल रचना के साथ आँख मिचैली खेल खेलने के बराबर है।

'हिंदी समीक्षा और दलित साहित्य' लेख में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने हिंदी समीक्षा की वर्तमान स्थिति को दिखाते हुए कहा है कि हिंदी समीक्षा की वर्तमान स्थिति त्रासद है। आपसी रंजिश, व्यक्तिगत विद्वेष और विरोधाभास के चलते हिंदी समीक्षा नकारात्मक की ओर बढ़ रही है। हिंदी समीक्षा 'उत्कृष्टता' और 'पवित्रता' के नाम पर जातीय संकीर्णता और साम्प्रदायिक मूल्यों की स्थापना कर रही है। हिंदी समीक्षा जातीयता के चुंगल में फसकर सवर्णों की सोच का गढ़ बन गया है। इसलिए जब कभी बात स्त्री, दलित या आदिवासी की होती है, तो हिंदी समीक्षा इसे पचा नहीं पाती। मुद्राराक्षस कहते हैं –''यह साहित्य की मुख्यधारा अंततः सवर्ण पुरुषों, साहित्यकारों की दुनिया है और स्त्री जाति या दलित जातियों के रचना संसार को अलग से मान्यता नहीं देती। ज्यादा-से-ज्यादा वह उन्हें अपनी एक छठी उँगली की तरह स्वीकार कर सकती है जिसे रक्त उसका शरीर ही देता है।''[31]

हिंदी समीक्षा हमेशा सामंती, पूंजीवादी एवं वर्ण-व्यवस्था को स्थापित करने पर बल देती आ रही है। इसका जनवादी और प्रगतिवादी स्वरूप मात्र दिखावा है, वास्तव में भीतर-ही-भीतर यह सामंतवाद का पोषण करता आ रहा है। इसके लिए हिंदी समीक्षकों ने उन साहित्य और साहित्याकारों को अपनी श्रेष्ठता की फेहरिस्त में शामिल किया, जो मानवीय मूल्यों के नकारात्मक पक्ष को उजागर करता है। इस फेहरिस्त में प्रेमचंद की कहानी 'कफन', अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यौ बहुत

गोपाल', निराला की 'राम की शक्ति पूजा' आदि को लिया गया है। इसपर टिप्पणी करते हुए ओमप्रकाश गे्रवाल कहते हैं –"आठवें दशक से पहले सभी साहित्यकार इस बात के कायल हो गए हैं कि किसी भी साहित्य-कृति को समझने के लिए इतना भर जरूरी है कि हमारे सामने पृष्ठ पर जो शब्द हैं, उनके समुचित प्रभाव को अवधानतापूर्वक ग्रहण किया जाए तथा उनके सामूहिक अर्थ व्यापार से जो विशिष्ट अंतग्र्रन्थित संरचना उभरकर आती है उसे पहचान लिया जाए।''[32] लेकिन अभी समय बदल गया है। आठवें दशक के पहले, साहित्य सवर्णों की तूती बोलती थी। लेकिन अब साहित्य में ऐसी अनेक धाराएँ फूटकर निकल आयी हैं, जो अपने साथ हजारों सालों की वेदना और कष्ट को लिए हुई हैं। ये धाराएँ पहले वाली साहित्यिक समीक्षा की पद्धति को नकार रही है। ये नयी धाराएँ अपने साथ एक नया वैचारिक मूल्य लिए हुए है, जो मानव समाज के हीत में है। इसलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं –"इस पद्धति के आधार पर लिखी गई समीक्षाएँ उन तमाम स्थितियों और अनुभवों को नजरअंदाज करती रही हैं जो किसी भी रचना के परिवेश, वैचारिक मूल्यों को उजागर करती हैं। किसी भी रचनाकार के अनुभवों की विशिष्टता को समझने के लिए आवश्यक है कि उसके जीवन से संबंधित अन्य जानकारी भी हासिल की जाए। किसी रचनाकार को प्रेरित करनेवाले मुख्य कारकों, उसके उद्देश्यों, उसके अपने निजी जीवन के अंतद्र्वंद्वों, संघर्षों को अनदेखा करके किया गया मूल्यांकन गलत निष्कर्षों को जन्म देता है। हिंदी समीक्षा इन खतरों से टकराने से डरती रही है। इसीलिए हिंदी में उन रचनाकारों को निकृष्ट माना जाता है जो वर्तमान के अंतद्र्वंद्वों, संघर्षों से टकराने का साहस पैदा करते रहे हैं।''[33] इसका सीधा प्रभाव पाठक पर पड़ता है। यहाँ पाठक समीक्षक की दृष्टि अपना लेती है। जिसके चलते पाठक कथ्य और कथन को एक मानकर चलने लगता है। जबकि कथ्य और कथन एक नहीं होता। कथ्य विषय-वस्तु की ओर इशारा करती है तो कथन उसका परिवेश, उसके मूल्यों को उजागर करती है।

हिंदी समीक्षक साहित्यिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों से भिन्न मानते हैं। हिंदी समीक्षक साहित्य और राजनीति को भिन्न मानने लगते हैं। जिसके कारण साहित्य और राजनीति में भ्रम पैदा हो गया है। रचनाकार की कलम से वर्तमान छूटता जा रहा है। रचनाकार राष्ट्रीय फलक पर होने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं को अनदेखा कर रहा है और बदले में अतीत के गढ़े मुर्दें को खोद रहे हैं। अगर कोई रचनाकार यह साहस करता भी है तो उसपर हिंदी समीक्षक राजनीतिकरण का आरोप लगा देते हैं। इससे हिंदी साहित्य एकांगी बनता गया है। हिंदी साहित्य का सामंती मूल्य उसे एकांगी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह कर रहा है। लेकिन दलित साहित्य इस एकांगीपन का विरोधी है। बकौल ओमप्रकाश ग्रेवाल –"साहित्यिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों से इस आधार पर भिन्न बताया जाता

है कि साहित्य में जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना होती है, उनमें सत्य और शिव का अनूठा एकाकार हो जाता है। कोई भी सफल साहित्य कृति एक ऐसे स्वतः संपूर्ण संसार की पुष्टि करती है, जहाँ पाठक अपनी जैविक आवश्यकताओं से असम्पृक्त होकर सामाजिक बंधनों, पक्षपातों एवं संकल्पों से जकड़े रहते हैं, शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से कृति द्वारा संप्रेषित मानवीय अनुभवों को ग्रहण नहीं कर पाता।''[34]

साहित्य, समाज और राजनीति एक दूसरे के पूरक है। दलित साहित्य इन तीनों को लेकर चलता है। दलित समीक्षक अपने साहित्य के माध्यम से समाज में व्याप्त पूर्वाग्रह, खोखले आदर्शों, मानव विरोधी मूल्यों, असमानता पर आधारित समाज व्यवस्था का विरोध जोरदार लहजें में करते हैं। दलित साहित्य, हिंदी साहित्य की पूनर्व्याख्या के पक्ष में अपनी बात रखता है। उनके सौन्दर्यशास्त्र पर प्रश्न चिह्न लगाता है। इसी सौन्दर्यशास्त्र के चलते पारम्परिक समीक्षा दलित साहित्य के अंतर्निहित मूल्यों, जीवन आदर्शों को सही-सही आंकलन करने में असमर्थ है। डॉ. गजानन चव्हान कहते हैं – ‘‘काव्य-समीक्षा की प्रभावकारिता और उसके लिए प्रयुक्त उपकरणों का निर्णय एवं उल्लेख कविता के स्वस्थ विकास की दृष्टि से ही नहीं कवि की अलग पहचान की दृष्टि से भी आवश्यक होता है। समीक्षा से सामान्यतः एक अपेक्षा की जाती है कि वह साहित्य-लता की पोषिका बने। समीक्षा साहित्य-लता के पोषण के अनुकूल तभी बन सकती है, जब समीक्षक कवि की दृष्टि, मन्तव्य एवं मानदंडों को निश्चित करे। सब कवियों के लिए एक जैसा मानदंड नहीं हो सकते। जो जिन उद्देश्यों से बनी हुई है, उन्हीं के आधार पर उसका मूल्यांकन माना जाएगा। दलित कविता का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना नहीं है। वह कार्य के लिए प्रयुक्त करनेवाली कविता है। वर्ण और जातिप्रथा के आधार पर फैलाई गई विषमता के विरुद्ध उसने संघर्ष की भूमिका अपनाई है।''[35]

दलित साहित्य किसी भी साहित्यिक परम्परा को नष्ट करने की बात नहीं करता और न ही समाज में विघटन पैदा करना उसका उद्देश्य है। यह अतीत में स्थित घृणा, द्वेष आदि का खंडन करता है। पारम्परिक साहित्यिक समीक्षा के मानदंडों को नहीं मानता। साहित्य में बनावटीपन और दिखावटी का कड़ा विरोध करता है। इसलिए उनकी वाणी में हमें ओज और आक्रोश दिखाई देता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं –‘‘युगों-युगों से प्रताड़ित, शोषित, साहित्यिक, संस्कृति से वंचित मानस जब स्वयं को साहित्य के साथ जोड़ता है तो दलित साहित्य उसकी निजता को पहचानने की अभिव्यक्ति बन जाता है। हाशिए पर कर दिए गए इस समूह की पीड़ा जब शब्द बनकर सामने आती है तो सामाजिकता की पराकाष्ठा होती है। सदियों से दबा आक्रोश शब्द की आग बनकर फूटती है। तब भाषा और कला की परिस्थितियाँ उसे सीमाबद्ध करने के असमर्थ हो जाती है।''[36]

दलित चेतना वह बिंदु है जो गैर दलित द्वारा लिखे गए और दलितों द्वारा लिखे गए दलित लेखन को अलगाती है। दलित चेतना भाग्यवाद, निराशावाद आदि का कड़ा विरोध करती है। जाति-व्यवस्था उसे मान्य नहीं है। दलित चेतना समाज में समानता, भाई-चारे और स्वतंत्रता की स्थापना की पक्षधर है। इन्हीं बिदुओं को दिखाते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि नागार्जुन की 'हरिजन-गाथा' का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –''नागार्जुन की 'हरिजन-गाथा' कविता का उद्धरण अप्रासंगिक नहीं होगा। इस कविता में कवि ने मार्मिक शब्दों में दलितों के हथियार उठाकर व्यवस्था को पराजित करने की संभावना व्यक्त की है। कवि की सहानुभूति दलितों के साथ है, इसमें संदेह और अंधविश्वास की गुंजाइश भी नहीं है। भाषा के जिन प्रतीकों, बिम्बों और संकेतों के द्वारा कवि ने अपनी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है, वे दलित चेतना की धार को कुंद करते हैं। यह इस कविता का विरोधाभास है। मनुपुत्र, भाग्य-दुर्भाग्य, हरिजन के साथ क्रांति का निष्कर्ष है कि क्रांति के बाद दलित नई ऋचाएँ और वेद का गायक होगा। यहाँ यह शंका निराधार नहीं है कि कवि का आग्रह 'वेद' और 'ऋचाओं' के प्रति क्यों है। मनुस्मृति में दर्ज दंड विधानों के बाद कोई भी दलित स्वयं को मनुपुत्र स्वीकार नहीं करता। नागार्जुन का यह आग्रह ठीक वैसा ही है जैसा 'हरिजन' शब्द के साथ। 'हरिजन-गाथा' कविता दलित चेतना का विस्तार नहीं करती, बल्कि यह भावुक अभिव्यक्ति, जिसमें सहानुभूति का अंश ज्यादा है, बनकर रह जाती है।''[37]

6.3.8 प्रेमचंद और दलित

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने प्रेमचंद की रचनाओं और उनके विचारों को दलित-संदर्भ में पुनःव्याख्यायित किया है। प्रेमचंद का समय हिंदी साहित्य में छायावाद का रहा है। उनका समूचा रचनाकर्म इसी दौर का है। भारतीय इतिहास और भारतीय साहित्य में यह समय काफी उथल-पुथल भरा रहा है। इसी समय स्वतंत्रता आन्दोलन, नवजागरण, आर्य समाज, ब्रह्म समाज, कांग्रेसी विचारधारा, हिंदू महासभा, गांधीजी, डॉ. भीमराव अंबेडकर आदि के आन्दोलन शिखर पर थे। इसी समय मजदूर वर्ग ने भी अपनी शक्ति का परिचय दिया। पूरे भारत के मील मजदूर हड़ताल पर उतर आए। सन् 1919 ई में रौलट एक्ट लागू किया गया। इस एक्ट के विरुद्ध में महात्मा गांधी ने आन्दोलन छेड़ दिया। उस आन्दोलन में सभी ने बड़-चड़ कर भाग लिया। इसी दौर में दलितों की समस्या लेकर राजनीति में अंबेडकर ने दस्तक दिया। डॉ. अंबेडकर का दलित आन्दोलन भारतीय राजनीति का प्रमुख हिस्सा बन कर उभरा। हजारों साल के शोषण-दमन और सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध दलितों ने आवाज उठाई। महाराष्ट्र के दलित आंदोलन पर उतर आए। उत्तर भारत में यह काम अछूतानंद कर रहा था। इसी समय प्रेमचंद भी पूरे देश पर होने वाली गतिविधियों पर लिख रहा था। प्रेमचंद अपनी दो

पत्रिका 'हंस' और 'जागरण' का संपादन कर रहे थे। इस दृष्टि से देखें तो प्रेमचंद का समय काफी महत्त्वपूर्ण है।

सन् 1931 ई. की प्रथम गोलमेज कांफ्रेंस में अंग्रेजों के सामने डॉ. अंबेडकर ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन की मांग रखी। 17 अगस्त, 1932 को रैमज मैकडानल्ड ने अपना निर्णय दिया, जिसमें न केवल मुसलमानों के लिए पृथक चुनाव-क्षेत्रों तथा अन्य सुरक्षाओं का समर्थन किया, बल्कि दलितों को एक इकाई के रूप में मान्यता दी गई। इस नर्णय का गांधीजी ने विरोध किया। गांधीजी ने यरवदा जेल (पूना पैक्ट) में 20 सितंब, 1932 को आमरण अनशन शुरू कर दिया। अंततः गांधीजी के आगे डॉ. अंबेडक को झुकना पड़ा, जिसे इतिहास में 'पूना पैक्ट' के नाम से जाना जाता है। दलितों में आयी इस चेतना को हिंदू अलगाववादी नजरिये से देख रहे थे। इन हिंदुओं ने यह प्रचारित किया कि स्वतंत्रता आंदोलन को कमजोर करने के लिए दलितों को इंस्माल किया जा रहा है। वामपंथी नेताओं ने तो डॉ. अंबेडकर को साम्राज्यवादियों का पिट्ठू तक कह डाला। उनकी दृष्टि में डॉ. अंबेडकर का आंदोलन साम्राज्यवाद को सुदृढ़ करने का प्रयास था। डॉ. अंबेडकर की पृथक निर्वाचन की मांग पर 22 अगस्त, 1932 के 'जागरण' में प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं –"सांप्रदायिक भेद की नीति ही आपत्तिजनक है, गवर्नमेंट भारत को राष्ट्र नहीं समझती है, हम अपने व्यवहार में उसे ऐसा समझने का अवसर ही नहीं देते हैं। वह तो भारत को संप्रदायों की दृष्टि से देखती है। अत एवं सांप्रदायिक मताधिकार के लिए हम दतने इच्छुक हों, यह तो गवर्नमेंट की दृष्टि का समर्थन है।''[38] प्रेमचंद दलितों की समस्या को गांधीवादी चश्में से देखते हैं। इसलिए उन्हें अलग निर्वाचन की मांग सांप्रदायिक लगता है। उनकी दृष्टि में दलित समस्या मात्र एक सांप्रदायिक समस्या है और कुछ नहीं।

'पूना पैक्ट' को डॉ. अंबेडकर और पूरे दलित वर्ग अपनी हार मान रहे थे तो वहीं हिंदुओं के लिए यह जीत थी। इस घटना पर प्रेमचंद 26 सितंबर 1932 के 'जागरण' के संपादकीय में लिखते हैं – "शत्रु ने लक्ष्य भी उसी स्थान पर किया था, जो सबसे कमजोर है, लेकिन गांधी की तपस्या ने पासा पलट दिया और न जाने कितनी दैवी शक्ति लेकर सामने आ खड़ा हुई। देखते ही देखते हवा बदल गई और शत्रुओं से घिरी हुई राष्ट्रीयता अपनी मोर्चे से निकलकर सांप्रदायिकता का संहार कर रही है। पूना में उसने पहली विजय पाई...''[39] प्रेमचंद की बातों से स्पष्ट है कि वे किनके साथ खड़े हैं। गांधीवाद के पक्षधर थे ना कि दलितों के। अगर प्रेमचंद दतिलों के पक्षधर होते तो उनकी कलम से यह कतई नहीं निकलती। प्रेमचंद अपने प्रांभिक दिनों में गांधीवाद से प्रभावित थे। इस बात से कोई अनकार नहीं क सकता औ अपने अंतिम दिनों में प्रगतिशील लेखकों के प्रभाव में आए।

प्रेमचंद और दलित संदर्भ में बात करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि यह स्वीकारते हैं कि प्रेमचंद ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने साहित्य में यथार्थ को स्वीकार्य बनाया। उन्होंने दलित-विमर्श को अपने साहित्य का अंग बनाया। उन्होंने दलितों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। बावजूद इसके प्रेमचंद गांधीवाद और उनकी सुधारवादी दृष्टि से प्रभावित थे। प्रेमचंद ने दलितों की समस्या को गांधीवादी चश्में से देखा है। गांधीवाद सुधारवाद और आदर्श को लेकर चलता है, जो हमें प्रेमचंद के साहित्य में भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसलिए उनके यहाँ दलितों की पीड़ा, दुःख-दर्द, उनकी चेतना, उनका संघर्ष साहित्य में संवेदना का अधिकारी बनकर अभिव्यक्ति नहीं पा सकी। प्रेमचंद के साहित्य में दलित विषय पर बात रखते हुए दलित आलोचक और लेखक श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं -"एक दलित लेखक के रूप में प्रेमचंद ब्राह्मणवादी मूल्यों के वाहक और प्रबल गांधीवादी लगते हैं। उनकी दृष्टि में पे्रमचंद ने अपनी कहानियों में चमारों की दुर्गति की और गलत चित्रण द्वारा पाठकों को नकारात्मक राय कायम करने का आधार दिया। अतः प्रेमचंद लेखक के बजाय वर्ण-भेद के समर्थक कायस्थ ज्यादा दिखाई पड़ते हैं।''[40]

प्रेमचंद की कहानियों पर बात करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि उनकी सभी कहानियों में सिर्फ 'ठाकुर का कुआँ' और 'दूध का दाम' में ही दलित चेतना नजर आती है। ये दो कहानियाँ दलित विमर्श और दलित चेतना से प्रभावित है। प्रेमचंद ने प्रस्तुत कहानियों में गांधीवादी दृष्टिकोण और आदर्शवाद का चोला उतार फेंका है। इन दोनों कहानियों में डॉ. अंबेडकर के महाड़ सत्याग्रह और कालाराम मंदिर प्रवेश आन्दोलन का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। 'ठाकुर का कुआँ' की गंगी और 'दूध का दाम' का मंगल के माध्यम से प्रेमचंद की दलित चेतना अभिव्यक्त हुई है। प्रेमचंद वर्गीय चेतना के आदर्शवादी साहित्यकार हैं। भारतीय जाति व्यवस्था के तहत दलित जीवन की छपटाहट, उनका शोषण आदि का चित्रण उनके साहित्य में देखने को मिलता है। भले ही उनकी आधी-से-अधिक कहानियाँ गांधीवाद और सुधारवादी आन्दोलन से प्रभावित हो लेकिन कम ही सही उनके साहित्य में दलित जीवन की झाकियाँ देखने को मिलती है। इसलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं "प्रेमचंद का अध्ययन करना दलित ही नहीं प्रत्येक उस व्यक्ति के लिए जरूरी है जो साहित्य को मनुष्य की चिंताओं के लिए जरूरी मानते हैं। समाज के विकास में साहित्य की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है यह प्रेमचंद को पढ़ने के बाद ही समझ में आता है। प्रेमचंद जितने प्रांसगिक अपने समय में थे उससे ज्यादा आज हैं। यही उनकी विशिष्टता भी है और पहचान भी।''[41]

6.3.9 मुख्यधारा का यथार्थ

12 एवं 13 अप्रेल, 2008 को अस्मितादर्श साहित्य सम्मेलन, चंद्रपुर, महाराष्ट्र में सम्पन्न हुआ। इस सभा के अध्यक्ष हिंदी दलित साहित्य के रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि थे। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण देते हुए मुख्यधारा और उसके यथार्थ के संबंध में अपनी बातें रखीं। अपनी बात रखते हुए उन्होंने 'मुख्यधारा' शब्द पर विशेष जोड़ देते हुए कहा कि 'मुख्यधारा' शब्द आजकल चर्चा में है। मुख्यधारा शब्द को साहित्य, राजनीति और विकास के साथ जोड़कर देखा जा रहा है। उन्होंने कहा कि भारतीय साहित्य के संदर्भ में देखें तो वह धारा जिसका साहित्यिक प्रयोजन 'आनंद, मोक्ष, अर्थ और काम हो। या ऐसे लोगों की धारा जिन्होंने 'वर्ण-व्यवस्था' का इस्तेमाल एक समूह विशेष को दासता की गिरफ्त में जकड़कर धारा से बाहर कर दिया और वापसी के तमात रस्ते बंद कर दिए गए। धारा से बाहर धकेले गये ये लोग जिनकी अस्मिता, संस्कृति छिन्न-भिन्न कर दी गई। क्या यही है मुख्यधारा जिसका इतना ढोल पीटा जा रहा है? क्या यही है मुख्यधारा जिसके लिए बीस करोड़ लोगों को अपनी मनुष्य होने की लड़ाई लड़ानी पड़े। मुख्यधारा एक वर्ण विशेष की इच्छा-अनिच्छा, आशा-आकांक्षओं से उत्पन्न मान्याताओं, स्थापनाओं की धारा है जिसके लिए एक दलित को अपने वजूद के लिए संघर्ष करना पड़ता है और यह धारा बेहद खूंखार और निर्दयी होकर अपने तमाम दांव-पेंचों, कलाबाजियों, बौद्धिक-विमर्शों, साहित्यिक शिल्पों के साथ दीवार की तरह सामने खड़ी हो जाती है और दलित के अस्तित्व को ही नकार देती है। मुख्यधारा दलित को एक मनुष्य मानने से इंकार करती है। उसे खारिज करती है। या फिर दोयम दरजे का मानकर उसे अपना पिछलग्गू बनाने की कोशिश करती है। इस मुख्यधारा का जोर-शोर से डंका पीटा जाता है। लेकिन सच तो यह है कि मुख्यधारा का साहित्य समय और समाज से कटा है। समाज में कुछ और हो रहा है, साहित्य किसी और दुनिया के किस्से सुना रहा है। भक्तिकालीन संतों, कवियों ने भारतीय जीवन में रची-बसी जाति व्यवस्था का विरोध तो किया, लेकिन जाति व्यवस्था पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। डॉ. अंबेडकर लिखते हैं "जहां तक संतो का प्रश्न है, तो मानना पड़ेगा कि विद्वानों की तुलना में संतों के उपदेश कितने ही अलग और उच्च हों, वे शोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे हैं। वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं। पहला - किसी भी संत ने जाति व्यवस्था पर कोई कभी भी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जात-पांत की व्यवस्था के पक्के विश्वासी रहे। उनमें से अधिकतर उसी जाति के होकर जिए और मरे, उसी जाति में जिसके वे थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सारे मनुष्य बराबर हैं। परन्तु यह शिक्षा दी कि ईश्वर की सृष्टि में सारे मानव समान है। दूसरा कारण यह था कि संतों की शिक्षा प्रभावहीन रही है, क्योंकि लोगों

को पढ़ाया गया कि संत जाति का बंधन जोड़ सकते हैं, लेकिन आदमी नहीं तोड़ सकता। इसीलिए संत अनुसरण करने का उदाहरण नहीं बने।''[42]

दलित साहित्य भेदभाव के खिलाफ विद्रोह करता है। सामाजिक, धार्मिक जीवन की विसंगतियों और उससे उत्पन्न जीवन मूल्यों को खंड़ित करता है। समाज में व्याप्त असमानता और घृणा इस तथाकथित मुखधारा की ही देन है। एक दलित के लिए ऐसी किसी भी धारा से जुड़ने का अर्थ हैं - वर्ण-व्यवस्था के भयानक जबड़े में स्वयं को ठूस देना और मुख्यधारा अलम्बरदार तो चाहते भी यही हैं कि समूचा दलित समाज, आदिवासी, अल्पसंख्यक उनकी धारा में आकर उनके अधीन रहें। ताकि उनका वर्चस्व बना रहे। हजारों सालों से यही तो हो रहा है। और भविष्य में कब तक चलता रहेगा कोई नहीं जानता।

मुख्यधारा के साहित्य में जहां बौद्धिक प्रलाप की बहुतायत होती है, वहीं समाज में घट रही तमात स्थितियों के प्रति तटस्थ भाव रहता है। उस पर अपनी प्रतिक्रिया जाहिर करने की जगह चुप्पी साध लेते हैं। अपने समय की बड़ी से बड़ी घटना भी इन्हें प्रभावित नहीं करती। ये अतीत में जीना ज्यादा पसंद करते हैं। यह मुख्यधारा की सबसे बड़ी विशिष्टता है। साहित्य की मुख्यधारा समय के संघर्ष से बचकर निकलने का उपक्रम अपनी शास्त्रीय भाषा को मोहरा बनाकर करती है। मुगलकाल या उससे पूर्व मुस्लिम शासकों, सुलतानों, खिलजी वंश, तुगलक वंश, अफगान आदि के काल में ही कहीं कोई विरोध या सामूहिक संघर्ष दखिाई नहीं पड़ता है। जो वर्ण-व्यवस्था की देन है। क्योंकि वर्ण-व्यवस्था सिर्फ शूद्रों, अंत्यजों, अस्पृश्यों को ही अलग-थलग नहीं करती बल्कि द्विज कही जाने वाली जातियों को भी एक दूसरे से दूर रखने का कारण बनती है। जो किसी भी सामूहिक प्रयास के विरुद्ध जाती है। यही स्थिति मुगलकाल में दिखाई देती है। भारतीय क्षत्रप दूसरे क्षत्रपों को पराजित करने में मुगल शासकों का साथ देते हैं। चाहे वे राजस्थान के राजा हों या दक्षिण भारत के। मुख्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कहे जाने वाले कवि हमें यह बताने में असमर्थ रहते हैं कि उनके काल में भारत मुगलों के अधिन है। यह स्थिति किसी एक कवि की नहीं मुख्यधारा के तमाम रचनाकारों की है। जो समय से कटे रहकर भी स्वयं को मुख्यधारा के भ्रमित अहमभाव के साथ जीते हैं। इसीलिए जिसे आज मुख्यधारा कहा जा रहा है, वह हिंदू वर्ण-व्यवस्था, सामंतवाद, ब्राह्मणवाद की वह धारा है, जहां दलित और स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं है। यह कटू सत्य है, जो साहित्य और समाज में मौजूद है। इसी धारा में दलितों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों को जोड़ने की बात जोर-शोर से की जा रही है, जिका उद्देश्य वर्चस्ववाद को स्थापित करना है। यही है मुख्यधारा का यथार्थ।

6.4 ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचना प्रक्रिया: अस्मिता की तलाश

"ज्यां-पाल सात्र्र ने कहा है कि लेखन केवल लिखना ही नहीं है, एक कार्यवाही है, और बुराई के खिलाफ मनुष्य के सतत संघर्ष में लेखन सायास हथियार की तरह इस्तेमाल करना चाहिए।''[43] प्रस्तुत पुस्तक 'मुख्यधारा और दलित साहित्य' ओमप्रकाश वाल्मीकि की एक मामूली किताब नहीं है बल्कि यह एक कार्यवाही है। यह सदियों से दमित और शोषित जनों की आवाज बनकर उभरी है। उक्त पुस्तक के माध्यम से लेखक ने अपने लेखन के कारणों को बताया है। दरअसल, 'मेरे लिखने का कारण' शीर्षक ओमप्रकाश वाल्मीकि जी का एक आलेख है, जो सन् 1995 ई. में 'परिवेश' पत्रिका के अक्टूबर-दिसम्बर वाले अंक में छपा था। और बाद में यही लेख डॉ. चमनलाल द्वारा संपादित पुस्तक 'दलित और अश्वेत साहित्य: कुछ विचार' नाम से भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में सन् 2001 ई. से छपा।

अस्तित्व का सवाल और उसकी पहचान ही वाल्मीकि जी को निरन्तर लिखने की प्रेरणा देती है। अस्तित्व और पहचान मात्र लेखक का नहीं है बल्कि उन समस्त शोषितों का है जिन्होंने हजारों साल की घुटन, भीषण यातनाओं और दग्ध अनुभवों को झेला है। जब अज्ञानता और उत्पीड़न की पर्तों को तोड़कर ओमप्रकाश वाल्मीकि का परिचय पुस्तकों में छपी शब्दों से हुआ तो उनके अंदर अपने अस्तित्व के प्रति, अपनी पहचान के प्रति, अपने समाज के प्रति चेतना जगी। इसी चेतना के कारण एक अलग किस्म की अभिव्यक्ति साहित्य में फुट कर बाहर आई। इस अभिव्यति में मुक्ति-संघर्ष की अनुभूतियों का प्रचंड, दग्ध आवेग तो है ही इसके साथ-साथ इसमें संवेदनाओं की सूक्ष्म प्रस्तुति भी है। यह अभिव्यक्ति कलास्वादों और प्रतिमानों के पारम्परिक साहित्य से एकदम भिन्न थी। ऐसे यथार्थ से हमारे पारम्परिक साहित्य कभी रू-ब-रू नहीं हुआ था। हमारे पारम्परिक साहित्य कभी भी इस पीड़ा को उद्वेलित नहीं कर पाई थी। साहित्य की इस परम्परा में दलित कहीं था ही नहीं। हमारा हिंदी साहित्य अभी तक दलितों की चीखों से अनभिज्ञ था। ऐसी स्थिति में उन पद-दलित, उपेक्षित जनों की वेदनाएँ ओमप्रकाश वाल्मीकि के लिखने का कारण बनता है।

अपनी लेखन-प्रक्रिया पर बात करते हुए वाल्मीकि जी लिखते हैं -"हिंदी साहित्य में प्रतिष्ठित साहित्यकारों, मानवीय अनुभूतियों और संवेदनाओं की व्याख्या करने वाले विद्वानों व समीक्षकों के अंतःकरण जब संकीर्णताओं और घिनौनेपन से भरे हों, तब चुप कैसे रहा जा सकता है? 'वसुधैवकुटुंबकम' सूत्र वाक्य दोहराने वाले अपने ही धर्म और समाज के एक हिस्से को नारकीय स्थिति में पहुंचाकर उनके मानवीय अधिकार तक छीन ले तो महानता और शब्दों का खोखलापन स्वयं ही नंगा हो जाता है। अशिक्षा, दलित परिवार में जन्म लेकर जिस पीड़ा, यातना, अमानवीय

स्थितियों को भोगा है, सहा है, उससे छपे शब्द की हकीकत छिपी नहीं है।''[44] एक दलित का यहाँ तक पहुंचना आसान बात नहीं है। जीवन की तमाम जटिलताओं और असुविधाओं से संघर्ष करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कुछ लिखने के योग्य हुए। उनका संघर्ष शुरूआती दिनों से उनके साथ चलता है। एक दलित होने के कारण जहाँ उन्हें सवर्ण अध्यापकों द्वारा कक्षा से बाहर निकाल दिया जाता था, तो वहीं उन्हीं अध्यापको ने उनके हाथों में झाडू थमा देने की कोशिश भी किया गया। साथ ही सवर्ण सहपाठियों का उत्पीड़न भी कम नहीं था। बावजूद इसके पुस्तकों से लेखक का संबंध और गहरा होता गया और उनके अंदर चेतना जगने लगी। इसी समय लेखक का परिचय प्रेमचंद, शरत, डॉ. अम्बेडकर, गौतम बुद्ध, ज्योतिबा फूले आदि से होती है। जिससे लेखक को और लिखने और पड़ने की प्रेरणा मिलती है। इन साहित्यकारों के साहित्य को पढ़कर उनकी अभिव्यक्ति कौशल और निखर आता है। स्वयं वाल्मीकि लिखते हैं -''प्रेमचंद, शरद, डॉ. अम्बेडकर, ज्योतिबा फूले, राहुल सांकृत्यायन, बुद्ध, मार्क्स, दया पवार, बाबूराव बागूर, एलेक्स हेली, जेम्स वाल्डविन आदि के साहित्य ने मुझे एक ऐसी अनुभूति दी जो मेरी पीड़ा की अभिव्यक्ति बन गई। उनके साहित्य में जो जद्दोजेहद थी वह सिर्फ मेरी नहीं पूरे शोषित की पीड़ा थी। उसके सरोकारों का एक अनवरत संघर्ष उनके साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है।''[45]

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी लेखनी में हिंदी पत्रिकाओं के असली रूप को उजागर किया है। हिंदी पत्रिकाएँ दलित-प्रश्नों को महत्त्व नहीं देती है। उनकी नजर दलित समस्या पर कभी नहीं पड़ती। उनके लिए दलित राष्ट्रीय समस्या नहीं है। दलित सवालों पर उन्हें जातिवाद की गंध आती है। इसी कारण लेखक को आरम्भिक दिनों में अपनी लिखी हुई कहानी, कविता आदि छपवाने के लिए काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ा था। हर पत्रिका, हर संपादक उनकी रचनाओं को लौटा देते थे। लौटाने का मुख्य कारण था रचनाओं की विषय-वस्तु। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की रचनाओं की विषय-वस्तु उस समय ऐसे जीवन को रेखांकित कर रही थी, जो साहित्य के लिए एकदम नया था। पारम्परिक पाठकों और साहित्यकारों के लिए ये सारे विषय-वस्तु अविश्वसनीय, अकल्पनीय, अतार्किक, अश्लील एवं विद्रूप था। भला ऐसी विषय-वस्तु को हिंदी के पारम्परिक पाठक और साहित्यकार कैसे पचा पाते ? हिंदी पत्रिकाओं के संपादक ऐसी विषय-वस्तु वाली रचनाओं को छापना नहीं चाहते थे। परिणामतः रचनाएँ पुनः अपने पता पर वापस आ जाती थीं। अपना अनुभव साझा करते हुए वाल्मीकि जी कहते हैं –''उन दिनों हिंदी के सभी बड़े अखबारों ने मेरी रचनाओं को लगातार लौटाया था। जनसत्ता, दैनिक हिंदुस्तान, नवभारत टाइम्स, साप्ताहिक हिंदुस्तान, धर्मयुग के कार्यलयों से दस्तक देकर लौटी रचनाएँ देखकर भी मैं निराश कभी नहीं हुआ। लौटी हुई रचनाओं ने

मुझे हमेशा ताकत ही दी हैं।''[46] आगे वाल्मीकि जी लिखते हैं -" 'जंगल की रानी' कहानी एक आदिवासी युवती के संघर्ष और शोषण की कहानी है जो 'सारिका' ने सन् 1980 में स्वीकृति देकर भी 1990 में वापस कर दी थी। बाद में यह कहानी 'जनसत्ता' में प्रकाशित हुई थी।''[47] इसतरह से ओमप्रकाश वाल्मीकि ने मीडिया और पत्रिकाओं के संपादकों की दोहरी मानसिकता को उजागर किया है।

हिंदी के तथाकथित साहित्यकारों ने हमेशा दलित प्रश्नों से और उनकी समस्याओं से नाक-भौंह सिकोड़ा है। यदि इन साहित्यकारों ने कभी भी दलितों पर अपनी कलम चलाई भी तो मात्र संवेदना और दयाभाव के तहत। सवर्णों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित जीवन में कोई परिवर्तन नहीं ला पाता है। प्रेमचंद, अमृतलाल नागर, गिरिराज किशोर आदि जैसे महान साहित्यकार भी दलितों का प्रतिनिधित्व करने में असफल रहें। इनके द्वारा लिखा गया साहित्य भी समाज में परिवर्तन लाने में असमर्थ साबित हुआ। इसीलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि को मुख्यधारा के साहित्य और साहित्यकारों से विश्वास ही उठ गया है। वह अपने लिए अलग राह तलाशना चाहते हैं। बकौल ओमप्रकाश वाल्मीकि –"हिंदी साहित्य तमाम उत्कृष्टताओं, बौद्धिक कलाबाजियों, आध्यत्मिक आख्यानों, भाषिक विलक्षणताओं, कला-प्रतिमानों के बावजूद मेंरे मन में विश्वास उत्पन्न करने में क्यों असमर्थ हैं ? साहित्य की यह मुख्यधारा मुझे क्यों आकर्षित नहीं कर पाती। मैं उससे अलग खड़ा अपनी राह तलाशना चाहता हूँ। ये तमाम प्रश्न मुझे बेचैन करते हैं। साहित्य के तमाम सार्वभौमिक तत्त्व मुझे लिजलिजे लगते हैं, सामंती सोच से निकले हुए, जहाँ संघर्ष भावना और दृष्टिकोण के लिए कोई जगह नहीं।''[48] हमारी व्यवस्था ने दलितों को अस्पृश्य, अंत्ज्य बताकर समाज से अलग कर दिया। कभी कर्म की दुहाई देकर तो कभी भाग्य का लेखा बताकर। जितना दमन और शोषण हमारे अपनो ने दलितों के साथ किया है, उतना तो कोई विदेशी शासन भी नहीं कर पाए। ये सारी पीड़ाएँ ओमप्रकाश वाल्मीकि को लिखने के लिए उकसाती है। यही उनके लिखने का कारण बनती है।

6.4.1 कविताओं का आंतरिक यथार्थ

ओमप्रकाश वाल्मीकि मूल रूप में कवि हैं। कविता की बुनावट ही ऐसी होती है कि जिसमें मानवीय संवेदनाओं की गुंजाइश सबसे अधिक होती है। शायद इसीलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने भी अपने प्रारंभिक दौर से ही अभिव्यक्ति का माध्यम कविता को चुना। एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में कार्य करते हुए उनकी रुचि कविता की ओर बढ़ती गई। उनकी कविता की आंतरिकत और सामाजिक-बोध ही उन्हें व्यक्ति और समाज सापेक्ष बनाती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के लिए कविता सिर्फ शब्दों का खेल नहीं है। बल्कि उनके लिए जीवन मिशाल है। एक आन्दोलन है।

सत्तर के दशक में दलित रचनाकारों की जो पीढ़ी परिदृश्य पर उभरी, उसने दलित कविता को आन्दोलन का हिस्सा बनाया। यह वह समय था जब दलित कविता का हिंदी में स्वर सुनाई पड़ने लगा था। दलित कविता अपनी मुखरता, आक्रोशित स्वर के कारण एक आन्दोलन का एक अभिन्न हिस्सा बनती जा रही थी। दलित कविता हजारों साल से जड़ें जमाए बैठे जातिगत पूवग्रहों पर सीधे-सीधे प्रहार करती है। सामाजिक भेदभाव, विषमताओं, वैमनस्य, वर्ण-व्यवस्था से उपजी अमानवीय बर्बरता के विरुद्ध आवाज बुलंद करती है। समाज में व्याप्त हजारों साल के शोषण-दमन की यातना से मुक्ति की छटपटाहट दलित कविता की आन्तरिक जद्दोजहद का हिस्सा है। यही दलित कविता की ऊर्जा है और यही उसकी पहचान भी। दलित कविता ने सिर्फ साहित्यिक सवाल ही नहीं खड़े किए बल्कि सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक प्रश्न भी खड़े किए है। लेकिन दलित कविता में उठ रहे सवालों, उसकी आन्तरिकता, उसकी अन्तःपीड़ा, दुख, वेदना को न समझने की जिद्द भी हिंदी साहित्य के आलोचकों में दिखाई देती रही है। किसी ने इसे सपाटबयानी का आरोप लगाय तो किसी ने अपरिपक्व कहा, किसी को दलित कविता गाली-गलौच से भरी लगी तो किसी ने उसकी भाषा को लेकर सवाल उठाए। एक दलित की भोगी हुई पीड़ा और वेदना उसकी रचनाधर्मिता की संवेदना इन आलोचकों, संपादकों को स्पर्श नहीं करती। इसीलिए उन्हें यह सब बनावटी लगता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में जातीयदंश बहुत गहरे हैं। उनका पहला कविता-संग्रह की लगभग समी कविताओं में जातीय दंश के विरुद्ध आक्रोशित स्वर में एक आन्दोलन का स्वरूप दिखाई देता है। इस संग्रह की कवितों में जाति और उससे उपजे यातनापूर्ण जीवन के विरुद्ध मुखरता ज्यादा है। दलित के लिए जाति एक भयानक सच्चाई है। एक दलित जिस तरह से जाति के वीभत्स रूप को भोगते हुए बड़ा होता है। सामाजिक जीवन में एक दलित को जिस तरह मानसिक प्रताड़ना वहन करते हुए जीना पड़ता है, उसे केवल एक दलित ही जान सकता है। इसीलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी रचनाओं में जातियादंश को स्वीकार करते हुए कहते भी हैं –''मेरी रचना प्रक्रिया में जातीयदंश बहुत गीरे हैं। मुझे यह कहने में या स्वीकार कर लेने में भी कोई गुरेज दिखाई नहीं देता कि मेरे लेखन में चाहे कविता हो, कहानी या आत्मकथा हो सभी जगह यह स्वर प्रमुख है।''[49]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता कल्पना लोक की नहीं बल्कि भोगे हुए यथार्थ और संवेदना की बात करती है। उनकी कविताएँ समाज में व्याप्त हजारों साल के शोषण-दमन की यातना से मुक्ति के लिए उठी चीख है। उनकी कविता हमें मनुष्यता के निकट ले जाने का काम करती है। हाशिये में पड़े लोगों के भीतर उम्मीद जगाती है। उनके जीवन में बदलाव की आकांक्षा उत्पन्न करती है।

वाल्मीकि जी ने अपनी कविताओं में प्रारम्भ से ही दलित अस्मिता की पहचान का प्रश्न उठाया है। मानवीय मूल्यों की स्थापना करना उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है।

6.4.2 मानवीय सरोकार की कहानियां

ओमप्रकाश वाल्मीकि की संपूर्ण कहानियाँ मानवीय सरोकार की पक्षधर करती हैं। उनकी कहानियाँ यथार्थ और संवेदनाओं के सम्मिश्रण से बनी हैं। भारतीय समाज की स्पष्ट छवि यहाँ देखने को मिलती है। उनकी कहानियां दलित समाज की पीड़ा और वेदना की साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती है। लेखक कहानियों के विषय-वस्तु के लिए भटकते नहीं फिरते हैं। उनकी कहानियों की विषय-वस्तु उनके अपने परिवेश से आया है। जिस परिवेश में कहानीकार का पालन-पोषण हुआ है, उसी परिवेश का चित्रण उनकी कहानियों में हुआ है। उनका परिवेश ही उनकी कहानी लेखन में खाद-पानी का काम करता है। बकौल ओमप्रकाश वाल्मीकि -"मेरा पालन-पोषण जिस वातावरण में हुआ, वहाँ सामाजिक ढ़ांचा पूरी तरह सामंतवादी, ब्राह्मणवादी और वर्ण-व्यवस्था पर खड़ा हुआ था। सामाजिक जीवन की जो नारकीयता एक दलित को भोगनी पड़ती है उसका अनुभव भुक्तभोगी ही जान सकता है। शायद वही अनुभव मेरी कहानियों के लिए खाद-पानी का काम कर रहे थे। इसीलिए मैंने जो विषय अपनी कहानियों में उठाए वे मेरे इर्द-गिर्द घटित होनेवाले रोजमर्रा के विषय थे। जिनमें उन अनुभवों का चित्रण था जिसके लिए पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र की कलात्मकता से हटकर नग्न यथार्थ को प्रस्तुत करके ही उस पीड़ा का एहसास हो सकता था।''[50] ओमप्रकाश वाल्मीकि जी का जन्म एक अनपढ़ परिवार में हुआ था। बावजूद इसके घर के सभी सदस्यों ने उन्हें पढ़ने-लिखने और स्कूल जाने के प्ररित किया। उन दिनों दलितों को स्कूलों में प्रवेश नहीं मिलता था। बालक ओमप्रकाश की भर्ती के लिए पिताजी को मास्टर के सामने हाथ जोड़ना पड़ा था। एक-एक अक्षर-ज्ञान के लिए लेखक को अनेक व्यथा से गुजरना पड़ा था। इन सारी अपमानों ने लेखक के भीतर साहित्य के प्रति एक आकर्षण पैदा किया और अपनी छोटी उम्र में ही रामायण, महाभारत, प्रेमसागर आदि पढ़ लिया। जब उनका दाखिला इंटर कॉलेज में हुआ तो वहां परिचय प्रेमचंद, शरतचंद्र आदि के साहित्य से हुआ। इस तरह से ओमप्रकाश वाल्मीकि का लगाव साहित्य के प्रति विकसित होता गया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों का पात्र कोई काल्पनिक या गढ़ा हुआ नहीं है बल्कि उन्हीं के समाज से है, जो स्वाभिमान और आत्मविश्वास के लिए संघर्ष करता है और जातीय हीनता से मुक्ति होने की जद्दोजहद रखता है। ये पात्र दलित समाज की व्यथा-कथा को अपने कंधों पर उठाकर चलते हैं। स्वयं ओमप्रकाश वाल्मीकि जी अपनी कहानियों के पात्रों के विषय में कहते हैं –"मेरी कहानियों में दलित पात्र अपनी स्वाभिमान, आत्मविश्वास के लिए संघर्ष करते हैं और जातीय हीनता

से मूक्ति होने की जद्दोजहद करते हैं।''[51] उनकी कहानियों के पात्र दलित चेतना का मिशाल है। उसे पढ़कर पाठकों के मन में एक अलग किस्म की ऊर्जा उत्पन्न होती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि को अपनी शुरूआती दिनों में कहानियों को छपवाने में कईं मुश्किलों का सामना करना पड़ा था। उन्हें अपनी कहानियों के छपने का इंतजार लम्बे समय तक करना पड़ता था। संमपादकों को उनकी कहानियों के विषय पसंद नहीं आते थे। सिर्फ विषय ही नहीं उनकी भाषा पर भी प्रश्न खड़ किया जाता था। ऐसे संपादक अपनी पत्रिकाओं में मराठी दलित साहित्य की चर्चा तो करते थे लेकिन हिंदी रचनाओं के प्रति उनका रवैया उपेक्षापूर्ण था। इस छोटे-छाटे संघर्षों से ओमप्रकाश वाल्मीकि जी को लगातार जूझना पड़ा। फिर भी उन्होंने हार नहीं मानी। दलित अस्मिता और दलित संघर्ष की जद्दोजहद के लिए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी प्रतिबद्धता से कोई समझौता नहीं किया। इसी का परिणाम है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि जी को हिंदी दलित साहित्य का स्तंभ माना जाता है।

वर्तमान समय में शिक्षा संस्थानों में दलित छात्रों के साथ जो घटित हो रहा है और उस पर किस तरह प्रशासन, पुलिस और न्यायपालिका, कार्यपालिका सभी चुप्पी साध लेती है, इसको 'घुसपैठिये' कहानी यथार्थ के साथ दिखाती है। यह कहानी एक ऐसी स्थिति का प्रतिफल है जहां प्रतिभासंपन्न दलित छात्रों की समूची जिन्दगी बर्बादी की ओर धकेली जा रही है। देश के बड़े-से-बड़े संस्थानों में आए दिन दलित छात्रों-छात्राओं के साथ ऐसी घटनाएं हो रही हैं और 'घुसपैठिये' कहानी इन्हीं घटनाओं का सबब है। 'मजदूर-मजदूर भाई-भाई' या 'मजदूर एकता जिंदाबाद' कहनेवाले संगठनों का रवैया एक दलित मजदूर के साथ कैसा होता है? इसकी अभिव्यक्ति हमें 'प्रमोशन' कहानी में देखने को मिलता है। 'मजदूर-मजदूर भाई-भाई' और 'मजदूर एकता जिंदाबाद' का नारा लगाने वाला सवर्ण मजदूर भी जातीय दम्भ से अपने को मुक्त नहीं कर पाता है। ऐसी स्थिाति में एक दलित मजदूर अपने आपको ठगा गया महसूस करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि को अपनी कहानियों के लिए मात्र गैर दलितों के बीच नहीं बल्कि अपनों के बीच भी जवाब-देह होना पड़ा। वाल्मीकि जी के अपनों ने ही 'खानाबदोश' कहानी पर राजनीतिकरण का आरोप लगाते हुए उनका विरोध किया और 'शवयात्रा' कहानी को लेकर दलितों के एक वर्ग ने उनपर विघटन का आरोप लगाया और वहीं 'अम्मा' कहानी को स्त्री विमर्श के विरुद्ध में लिखी गई कहानी कहा गया।

ये तमाम सामाजिक स्थितियां ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों का स्त्रोत बनती है। उनकी कहानियों का यथार्थ और संवेदनाएं इन स्थितियों से ही उत्पन्न होती हैं। इसलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि जी कहते हैं –''सामाजिक जीवन की विद्रूपताएं जब नग्नता के साथ मेरे सामने खड़ी होती हैं

तब किसी गहरे दबाव के रूप में कहानी उस अंधेरे को चीरकर विकसित होती है।''[52] इन सबके बावजूद उनकी कहानियों में जो दलित चेतना उभरकर आई है, वही उनकी कहानियों की गुणवत्ता है। यही चेतना उनके यहाँ दलितों के सामाजिक चेतना बन जाती है। यही चेतना ही ओमप्रकाश वाल्मीकि को अपने समय और समाज से जोड़कर रखती है और उनकी कहानियों को जड़ होने से बचाती है।

6.4.3 दलित आत्मकथाओं का सामाजिक और सांस्कृतिक परिदृश्य

'आत्मकथा' भारतीय साहित्य के लिए कोई नयी विधा नहीं है, लेकिन इस विधा को एक मुकम्मल पहचान आधुनिक काल में मिली। शुरूआती दौर में आत्मकथा मात्र एक आत्मप्रशंसा और आत्मप्रतिष्ठा की विधा थी, लेकिन धीरे-धीरे अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से इसकी अवधारणा बदलने लगी। अंग्रेजों और उनकी शिक्षानीति का प्रभाव भारतीयों के व्यक्तित्व पर पड़ने लगा। तब लोगों के अंदर अपनी व्यक्तित्व के प्रति सजगता जगने लगी। व्यक्तित्व के प्रति सजगता की भावना ने लोगों को आत्मकथा लेखन की तरफ खींचा। तब भारतीय साहित्यकारों ने भी इस विधा में अपना हाथ आजमाना चाहा। इस तरह से धीरे-धीरे आत्मकथा लेखन की शुरूआत होने लगी और बाद में यह एक परम्परा बन गयी।

आत्मकथा लिखना अर्थात् अपने आपको पूरी तरह से खोलकर पाठकों के समक्ष रख देना है। और ऐसा काम बहुत ही कम लोग कर पाते हैं। वास्तव में यह एक चुनौती है। चुनौती इसलिए क्योंकि यह विधा तटस्थता, ईमानदारी, यथार्थ, प्रमाणिकता और बेबाकी की मांग करती है, और इसका अभाव हमारी साहित्यिक परम्परा में सदा रहा है। शायद इसलिए साहित्य की सबसे पुरानी विधा होने के बावजूद इसका विकास उस रूप में नहीं हुआ, जिस रूप में होना चाहिए था। बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं –"आत्मकथा-लेखन की संस्कृति के पिछड़ेपन का कारण शायद यही है कि यह विधा जिस न्यूनतम ईमानदारी की मांग करती है, उसे निभाने का साहस यहां लगभग अनुपस्थित है, पाखंड जहां जीवन शैली का अंग हो, वहां खरेपन की आशा कैसे की जा सकती है?''[53] लेकिन इस साहस और ईमानदारी का परिचय दलित साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथा लिखकर दी है। ऐसी शुरूआत 'दरवाजे के बाहर खड़ा रहने वाला एस.सी' ही कर सकता है।

आलोचकों का एक ऐसा वर्ग भी है जो यह कहता है कि आत्मकथा लेखन एक सुविधाजनक कार्य है, क्योंकि लेखक स्वयं को महिमामंडित कर सकता है। वैसे स्वयं को महिमामंडित करनेवाली आत्मकथाओं का हिंदी साहित्य में कमी नहीं है। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि आत्मकथा

लेखन का विकास पूंजीवाद स्थापित होने के बाद हुआ। उनका मानना है कि आत्मकथा लेखन व्यक्ति की निजी उपलब्धियों का लेखा-जोखा है, जिसे विशिष्टता प्रदान करने के लिए आत्मकथाएं लिखी जाती हैं। इसलिए इस तथ्य से इंकार भी नहीं किया जा सकता है। लेकिन यह दलित आत्मकथाओं पर खरा नहीं उतरता है। दलित आत्मकथाएं जीवन की जिस विदूरपता को समाज के सामने लाती हैं, वहां तो दलित लेखक सबसे पहले स्वयं को ही नग्न करता है। महिमामंडन की तो वहां गुंजाइश ही नहीं रहती। दलित लेखकों ने अपने जीवन के जातीय दंशों को और उनसे उपजी शोषण की विभिषिका को अभिव्यक्त किया है। जिससे जाति-व्यवस्था की अमानवीय विदूरपता नहीं दिया है। इसीलिए सुधीश पचैरी कहते हैं -''वे नहीं जानते कि दलित लेखन का विमर्श शर्म से शुरू नहीं होता, बल्कि शर्म उतारकर शुरू होता है। क्योंकि शर्म एक ब्राह्मणवादी विमर्श ही है। अनुभवों की विशिष्टता, अनुभव की समग्रता यहां विद्यमान है।''[54]

दलित आत्मकथाओं ने साहित्य में एक नए विमर्श का सूत्रपात किया है। हिंदी में कल तक जो साहित्य की श्रेष्ठता थी, उस पर इन आत्मकथाओं ने सवालिया निशाना साधा है। सुधीश पचैरी कहते भी हैं –''दतिल विमर्श के आने के बाद साहित्य वह नहीं रह जाता है जो कहता है कि 'सुरसरी सम सब कहैं हित होई' साहित्य में सबका हित नहीं होता। जिसकी सत्ता वहां बनती है उसी का हित होता है।''[55] अब तक हिंदी साहित्य में सवर्णों की सत्ता थी और साहित्य भी उसी वर्ग के लिए लिखा जा रहा था। लेकिन दलित विमर्श के आने से एक नयी परम्परा का सूत्रपात हुआ है।

दलित आत्मकथा सिर्फ दलितों की आपबीती ही प्रस्तुत नहीं करती बल्कि भारतीय समाज व्यवस्था की अमानवीयता के पोल को भी खोलती है। दलित आत्मकथाओं के सहारे दलितों के अंदर चेतना का नवनिर्माण करने में सहायक हुआ है। और साथ ही दलित वर्ग अपने इतिहास को भी जान रहे हैं।

दलित साहित्य के आलोचना क्षेत्र में हिंदी के पारम्परिक आलोचकों का भाव उदासीन है। दलितों के पास अपना अतीत है, अपना इतिहास है, अपनी संस्कृति है। इस आधार पर उन्हें साहित्य लिखने का बड़ा स्त्रोत बुद्ध, कबीर, फुले, पेरियार रामस्वामी से प्राप्त हुआ है और इन्हीं से अपनी अस्मिता की पहचान इन्होंने ही कराई है। अब वह पारम्पपरिक हिंदी साहित्य से अलग दलित साहित्य लिख रहा है। तो उसके द्वारा लिखा साहित्य का सही मूल्यांकन होना जरूरी है जो पारम्परिक हिंदी आलोचकों द्वारा संभव नहीं है। क्योंकि पारम्परिक साहित्यशास्त्र के मापदंड, तत्त्व, प्रयोजन अलग है। इसलिए यदि दलित साहित्य का सही मूल्यांकन करना है तो उसके लिए अलग दलित दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र की आवश्यकता है।

इस तरह हम देखते हैं कि हिंदी दलित आलोचना अभी अपने सृजन के दौर से गुजर रही है बावजूद इसके हिंदी दलित आलोचना ने अपनी पहचान स्थापित कर ली है। हिंदी दलित आलोचना ने इतने कम समय में भी सामाजिक मूल्यों और साहित्यिक विमर्श में अपना पक्ष दृढ़ता के साथ खड़ा किया है। हिंदी दलित आलोचना ने साहित्य को समाज सापेक्ष और वस्तुनिष्ठ बनने की प्रक्रिया से जोड़ने की पहल की है। हिंदी साहित्य के तथाकथित आलोचक आज भी दलित साहित्य की आन्तरिकता और उसकी चेतना समझने के बजाय दलित रचनाकारों को साहित्यिक शास्त्रीयता सिखाने की कोशिश में लगे हुए हैं। ये आलोचक दलित साहित्य को सामंतवादी, ब्राह्मणवादी दृष्टि और मानसिकता के साथ दलित साहित्य को विश्लेषित करने में तुले हुए हैं। जिसके कारण दलित साहित्य पर ये तथाकथित आलोचक न्याय नहीं कर पाते हैं। ये आलोचक दलित साहित्य के मर्म तक नहीं पहुंच पाते हैं। इन आलोचकों के लिए दलित विषय बिल्कुल नया है। दलितों का भूगोल-इतिहास आज तक इन आलोचकों ने नहीं पढ़ा है। ऐसी स्थिति में ओमप्रकाश वाल्मीकि की आलोचना दृष्टि हिंदी दलित साहित्य के लिए वरदान के रूप में प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपनी आलोचना दृष्टि के मार्फत दलित साहित्य के सारे सरोकारों को समाज और साहित्य से जोड़ा है। उन्होंने दलित साहित्य के लिए एक अलग-सा 'सौन्दर्यशास्त्र' निर्माण करके दलित साहित्य में ही नहीं बल्कि संपूर्ण हिंदी साहित्य में एक नए प्रतिमान गढ़े हैं।

संदर्भ-सूची -
1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 13
2. समकालीन भारतीय साहित्य, त्रैमासिक, दिल्ली, मार्च-अप्रेल 1997, पृ. 166
3. हिंदुस्तान दैनिक, दिल्ली, 24 जून, 2002, पृ. 7
4. उद्धृत, लिंबाले, डॉ. शरनकुमार, अनुवाद-रमणिका गुप्ता, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्कण, 2005, पृ. 114
5. कथादेश, अंक-मार्च-2005, पृ. 67
6. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, भूमिका।
7. दलित प्रवाह और साहित्य कटिबंध, शिखर की ओर (संपादित), 1997, पृ. 353
8. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 32
9. वही, पृ. 49
10. वही, पृ. 50
11. वही, पृ. 50
12. वही, पृ. 36
13. वही, पृ. 14
14. वही, पृ. 15
15. वही, पृ. 29
16. वही, पृ. 55
17. वही, पृ. 31
18. वही, पृ. 53
19. हंस, अंक-1, सितंबर, 1996, पृ. 70-72
20. डाँगले, अर्जुन, दलित साहित्य: एक अभ्यास, महाराष्ट्र राज्य साहित्य-संस्कृति मंडल, मुंबई, प्रथम संस्करण, पृ. 21
21. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 14
22. कुमार, डॉ. विमल, छायावादी सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1970, द्वितीय संस्करण, 1978, पृ. 31-31
23. मुद्राराक्षस, राष्ट्रीय सहारा, दैनिक, 29 नवंबर 1998, पृ. 14
24. वही, पृ. 14
25. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 82
26. www.kavitakosh.in
27. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 11
28. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, नई दिल्ली, पृ.31
29. वही, पृ. 27

30. युद्धरत आम आदमी, अंक 41-41, 1998, पृ. संपादकीय
31. मुद्राराक्षस, दलित लेखन और सवर्ण रचना संसार, उत्तर प्रदेश, जून, 1997, पृ. 9
32. ग्रेवाल, ओमप्रकाश, आजादी के बाद हिंदी समीक्षा: आधुनिकता और नव्य आलोचना, नया पथ, अंक 24-25, 1997, पृ. 81
33. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 100-101
34. ग्रेवाल, ओमप्रकाश, आजादी के बाद हिंदी समीक्षा: आधुनिकता और नव्य आलोचना, नया पथ, अंक 24-25, 1997, पृ. 101-102
35. उद्धृत, वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 102-103
36. वही, पृ. 104
37. वही, पृ. 105
38. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 16
39. वही, पृ. 149
40. उद्धृत, वही, पृ. 150
41. वही, पृ. 155
42. उद्धृत, वही, पृ. 34
43. उद्धृत, वही, पृ. 43
44. वही, पृ. 12
45. वही, पृ. 13
46. वही, पृ. 18
47. वही, पृ. 41-42
48. वही, पृ. 15
49. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष और यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 21
50. वही, पृ. 21
51. वही, पृ. 22
52. वही, पृ. 23
53. तिवारी, बजरंग बिहारी, कागद की लेखी का अंतर, हंस 1997, पृ. 46
54. पचौरी, सुधीश, कुछ उत्तर उपन्यास, कुछ आधुनिक क्षण और कुछ अत्तर औपनिवेशिकवाद, परिवर्तन साहित्य, अंक -जनवरी-फरवरी, 2000, पृ. 285
55. वही, पृ. 28